द्रव्य प्रदाता

श्री बसन्तीदेवी

ध० प० श्री कन्हैयालालजी पाटनी

फर्म श्री कन्हैयालालजी सीतारामजी

२३ आरमिनियन स्ट्रीट, कलकत्ता

फाल्गुन कृष्णा ऽऽ
वी.नि.सं. २५०२

प्रति १०००

मूल्य
निर्दोष आलोच

मुद्रक :
पांचूलाल जैन
कमल प्रिन्टर्स
मदनगंज-किशनगढ़ (राज०)

प्रस्तावना

नाम सुन कर तो दूर की वात है, स्वय मरण करता हुआ भी कम्पित नही होता। धन्य है वे सुकुमाल स्वामी, जिनके शरीर का भक्षण स्यालिनी तीन दिन तक करती रही फिर भी उनका उपयोग आत्मस्वरूप से विचलित नही हुआ। धन्य है वे सुकौशल स्वामी, जिनके शरीर को उन्ही की माता का जीव जो व्याघ्री हुई थी, तीक्ष्ण नखो से विदीर्ण करती रही पर वे क्षपक श्रेणी मे आरूढ हो अन्तकृत् केवली वन कर सदा के लिये जन्म-मरण के चक्र से छूट गये।

यह स्वरूप की स्थिरता तव तक नही हो सकती जव तक भेद विज्ञान के द्वारा अपने ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा को पौद्गलिक शरीर से भिन्न अनुभव न किया जाय। जो अज्ञान वश वर्तमान पर्याय रूप ही अपने आपको मान रहा है वह मरण का प्रसग आने पर नियम से दुखी होगा ही परन्तु जिसे त्रैकालिक-शाश्वत आत्म-द्रव्य की श्रद्धा है वह शरीर के नाश मे अपना नाश नही मानता। उसका विचार तो रहता है कि 'शरीरमज्ञ, ज्ञोऽहम्' शरीर ज्ञान रहित है और मैं ज्ञान सहित हूँ। शरीर का एक परमाणु भी मेरे आत्म द्रव्य मे नही है और आत्म द्रव्य का एक प्रदेश भी शरीर मे नही है। दोनो पृथक् पृथक् द्रव्य है और दोनो का दोनो मे अत्यन्ता-भाव है। कुन्दकुन्द स्वामी ने भाव पाहुड मे लिखा है कि इस जीव ने जितने अस्थि पञ्जरो का त्याग किया है उन सबका परिमाण कुलाचलो के परिमाण से भी अधिक है। इस जीव ने मरण कर माता पिता आदि इष्ट जनो को इतना रुलाया है कि उनके आसुओं

ममता छोड बाहर आकर खडा हो जाता है इसीप्रकार ज्ञानी पुरुष चाहे मुनि हो या श्रावक, अपने पद के अनुरूप विपत्ति का प्रतिकार करता है परन्तु जब उसका प्रतिकार सफल होता नही दिखता तब अपने ज्ञानानन्द स्वभाव रूप धर्म की रक्षा करने के लिये ममता भाव से शरीर का परित्याग करता है। इस शरीर परित्याग में आत्मघात का अपराध नही है। आत्मघात का अपराध तो वहा होता है जहा यह जीव आगत दु.ख से बचने के लिये विष तथा शस्त्रादि से शरीर का घात करता है। समन्तभद्र स्वामी ने अन्तक्रिया—समाधि मरण के ऊपर अधिकरण–प्रभुता प्राप्त कर लेना ही तप का फल बतलाया है। जैसे कोई जीवन भर शस्त्र विद्या का अभ्यास करे और युद्ध का प्रसग आने पर शत्रु से पराङ्मुख हो जाय तो उसका शस्त्राभ्यास निष्फल कहलाता है। इसीप्रकार कोई मनुष्य निर्ग्रन्थ वेषधारण कर शीत, उष्ण तथा भूख प्यास आदि का कष्ट सहन करे परन्तु मृत्यु का प्रसग आने पर विचलित हो जाय तो उसकी यह सब साधना निष्फल कही जाती है।

अमृतचन्द्र स्वामी ने कहा है कि यह एक सल्लेखना अपने धर्मरूपी धन को परभवमे साथ ले जाने का एक-अद्वितीय साधन है। जैसे कोई मनुष्य परदेश मे जाकर बहुत सपत्ति सचय करे परन्तु जब स्वदेश को आने लगे तब उससे यह कहा जाय कि इस देश की सपत्ति बाहर नही ले जायी जा सकती तब उसे अपनी संपत्ति का सचय करना व्यर्थ मालूम होता है वैसे ही यह जीव अनेक प्रकार की साधनाओं के द्वारा धर्म रूपी धन को सचित करता

महाराज के चरणमूल मे रहकर आगम का अच्छा अभ्यास किया है। पूज्य श्रुतसागरजी महाराज के विषय मे क्या कहूँ ? वे अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी साधु है। इनके सघ मे जाने का अवसर जब मिलता है तब मुझे हार्दिक प्रसन्नता होती है। वे स्वय श्रुतसागर—शास्त्रो के समुद्र है और अपने चरणमूल मे रहने वाले अन्य साधुओ तथा माताजी वगैरह को उन्होने आगम का अभ्यास कराया है। श्री १०८ अजितसागरजी महाराज, जो इस सघ के उपाध्याय परमेष्ठी माने जाते है सदा सघस्थ साधुओ को पढाते रहते है। श्री १०८ सुबुद्धिसागरजी महाराज भी ज्ञानध्यान और तप मे लीन रहने वाले साधु हैं। अनेक भव्य जीवो का कल्याण इस सघ के द्वारा हो रहा है।

पूज्य १०५ श्री विशुद्धमती माताजी ने अभी पिछले वर्ष त्रिलोकसार की जो विस्तृत टीका की है उसे विद्वत्समूह मे बहुत आदर प्राप्त हुआ है। इसीप्रकार आचार्य वर्य पूज्य धर्मसागरजी महाराज के सघ मे स्थित श्री १०५ ज्ञानमती माताजी ने अष्टसहस्री की टीका लिखकर प्रकाशित करायी है उसको भी विद्वत्समूह मे पर्याप्त प्रतिष्ठा हुयी है। धन्य है इस माता युगल को जिन्होने ग्रन्थ रचना के क्षेत्र मे कीर्तिमान स्थापित कर स्त्री जाति का गौरव बढाया है।

विशुद्धमती माताजी की भावना रही कि समाधि मरण की सफलता के लिये अत्यन्त आवश्यक है परन्तु उसकी प्राप्ति स्वाध्याय से लिया कोई [illegible] ग्रन्थ नहीं है जो सभी मनुष्य

हाथ मे सदा रह सके । यद्यपि समाधिमरण का वर्णन करने वाले मूलाराधना और आराधनासार आदि ग्रन्थ है तथा उनमे इसका सागोपाङ्ग वर्णन भी है परन्तु वह सब अत्यन्त विस्तृत है इसलिये 'समाधि दीपक' नाम से उन्होने इस ग्रन्थ की रचना की है । इस ग्रन्थ मे उन्होने समाधि मरण के उपयुक्त सब सामग्री का सरस–सरल और सुबोध भाषा मे सकलन किया है । उपसर्गादि को सहन करने वाले मुनियो की जो कथाए मूलाराधना आदि मे उपलब्ध हैं वे भी इस ग्रन्थ मे सकलित की गई है । तात्पर्य यह है कि यह ग्रन्थ सबके बुद्धि गम्य है । दिवंगत आचार्य शिवसागरजी के समाधि दिवस की स्मृति मे उन्होने यह ग्रन्थ तैयार किया है । पूज्य आचार्यवर के प्रति उनकी अगाध भक्ति है इसलिये वे प्रतिवर्ष कोई न कोई पुस्तक उनकी स्मृति मे प्रकाशित करती रहती है । आशा है इस ग्रन्थ के स्वाध्याय से सब लोग लाभान्वित होगे । जिस महानुभाव ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे आर्थिक सहयोग दिया है उन्हे समाधि की अवश्य प्राप्ति होगी । माताजी का मेरे ऊपर अनुग्रह है कि वे अपनी रचना के विषय मे कुछ पक्तिया लिखने का मुझे अवसर देती है उस अनुग्रह से प्रेरित होकर ही मैंने यह पक्तिया लिखी हैं । अन्त मे त्रुटियो के लिये विद्वज्जनो से क्षमा याचना करता हुआ माताजी से यह आशा रखता हूँ कि वे इसी प्रकार श्रुताराधना करती रहेगी ।

सागर
२६-३-७६

विनीत ·
पन्नालाल साहित्याचार्य

महाराज के चरणमूल मे रहकर आगम का अच्छा अभ्यास किया है। पूज्य श्रुतसागरजी महाराज के विषय मे क्या कहूँ ? वे अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी साधु है। इनके सघ मे जाने का अवसर जब मिलता है तब मुझे हार्दिक प्रसन्नता होती है। वे स्वय श्रुतसागर—शास्त्रो के समुद्र है और अपने चरणमूल मे रहने वाले अन्य साधुओं तथा माताजी वगैरह को उन्होने आगम का अभ्यास कराया है। श्री १०८ अजितसागरजी महाराज, जो इस सघ के उपाध्याय परमेष्ठी माने जाते है सदा सघस्थ साधुओ को पढाते रहते है। श्री १०८ सुबुद्धिसागरजी महाराज भी ज्ञानध्यान और तप मे लीन रहने वाले साधु है। अनेक भव्य जीवो का कल्याण इस सघ के द्वारा हो रहा है।

पूज्य १०५ श्री विशुद्धमती माताजी ने अभी पिछले वर्ष त्रिलोकसार की जो विस्तृत टीका की है उसे विद्वत्समूह मे बहुत आदर प्राप्त हुआ है। इसीप्रकार आचार्य वर्य पूज्य धर्मसागरजी महाराज के सघ मे स्थित श्री १०५ ज्ञानमती माताजी ने अष्टसहस्री की टीका लिखकर प्रकाशित करायी है उसको भी विद्वत्समूह मे पर्याप्त प्रतिष्ठा हुयी है। धन्य है इस माता युगल को जिन्होने ग्रन्थ रचना के क्षेत्र मे कीर्तिमान स्थापित कर स्त्री जाति का गौरव बढाया है।

विशुद्धमती माताजी की भावना रही कि समाधि मरण स्त्री मनुष्य के लिये समस्त आवश्यक है परन्तु उसकी प्राप्ति मे सहायक हो ऐसा कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है जो स्त्री मनुष्य के

हाथ मे सदा रह सके। यद्यपि समाधिमरण का वर्णन करने वाले मूलारावना और आराधनासार आदि ग्रन्थ है तथा उनमे इसका सागोपाङ्ग वर्णन भी है परन्तु वह सव अत्यन्त विस्तृत है इसलिये 'समाधि दीपक' नाम से उन्होने इस ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ मे उन्होने समाधि मरण के उपयुक्त सव सामग्री का सरस-सरल और सुवोध भाषा मे सकलन किया है। उपसर्गादि को सहन करने वाले मुनियो की जो कथाए मूलाराधना आदि मे उपलब्ध हैं वे भी इस ग्रन्थ मे सकलित की गई हैं। तात्पर्य यह है कि यह ग्रन्थ सवके वुद्धि गम्य है। दिवगत आचार्य शिवसागरजी के समाधि दिवस की स्मृति मे उन्होने यह ग्रन्थ तैयार किया है। पूज्य आचार्यवर के प्रति उनकी अगाध भक्ति है इसलिये वे प्रतिवर्ष कोई न कोई पुस्तक उनकी स्मृति मे प्रकाशित करती रहती हैं। आशा है इस ग्रन्थ के स्वाध्याय से मव लोग लाभान्वित होगे। जिस महानुभाव ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे आर्थिक सहयोग दिया है उन्हे समाधि की अवश्य प्राप्ति होगी। माताजी का मेरे ऊपर अनुग्रह है कि वे अपनी रचना के विषय मे कुछ पक्तिया लिखने का मुझे अवसर देती है उस अनुग्रह से प्रेरित होकर ही मैंने यह पक्तिया लिखी हैं। अन्त मे त्रुटियो के लिये विद्वज्जनो से क्षमा याचना करता हुआ माताजी से यह आशा रखता हूं कि वे इसी प्रकार श्रुताराधना करती रहेंगी।

सागर
२६-३-७६

विनीत
पन्नालाल साहित्याचार्य

हाथ मे सदा रह सके। यद्यपि समाधिमरण का वर्णन करने वाले मूलाराधना और आराधनासार आदि ग्रन्थ है तथा उनमे इसका सांगोपाङ्ग वर्णन भी है परन्तु वह सब अत्यन्त विस्तृत है इसलिये 'समाधि दीपक' नाम से उन्होने इस ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ मे उन्होने समाधि मरण के उपयुक्त सब सामग्री का सरस–सरल और सुवोध भाषा मे सकलन किया है। उपसर्गादि को सहन करने वाले मुनियो की जो कथाए मूलाराधना आदि मे उपलब्ध हैं वे भी इस ग्रन्थ मे सकलित की गई है। तात्पर्य यह है कि यह ग्रन्थ सवके वुद्धि गम्य है। दिवगत आचार्य शिवसागरजी के समाधि दिवस की स्मृति मे उन्होने यह ग्रन्थ तैयार किया है। पूज्य आचार्यवर के प्रति उनकी अगाध भक्ति है इसलिये वे प्रतिवर्ष कोई न कोई पुस्तक उनकी स्मृति मे प्रकाशित करती रहती हैं। आशा है इस ग्रन्थ के स्वाध्याय से सव लोग लाभान्वित होंगे। जिस महानुभाव ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे आर्थिक सहयोग दिया है उन्हे समाधि की अवश्य प्राप्ति होगी। माताजी का मेरे ऊपर अनुग्रह है कि वे अपनी रचना के विषय मे कुछ पक्तिया लिखने का मुझे अवसर देती हैं उस अनुग्रह से प्रेरित होकर ही मैंने यह पक्तिया लिखी हैं। अन्त मे त्रुटियो के लिये विद्वज्जनो से क्षमा याचना करता हुआ माताजी से यह आशा रखता हूं कि वे इसी प्रकार श्रुताराधना करती रहेगी।

सागर
२६-३-७६

विनीत :
पन्नालाल साहित्याचार्य

* समाधि–मरण–भावना *

दिन रात मेरे स्वामी, मैं भावना ये भाऊँ ।
देहान्त के समय में, तुमको न भूल जाऊँ ।।टेक।।
शत्रु अगर हो कोई, सन्तुष्ट उनको कर दूँ ।
समता का भाव धर कर, सबसे क्षमा कराऊँ ।।
त्यागूँ अहार–पानी, औषधि विचार अवसर ।
टूटे नियम न कोई, दृढ़ता हृदय में लाऊँ ।।
जागें नहीं कषायें, नहिं वेदना सतावे ।
प्रभु (तुम) से ही लौ लगी हो दुर्ध्यान को भगाऊँ ।।
आत्मा स्वरूप, वा चतु-आराधना विचारूँ ।
अरहन्त–सिद्ध–साधू, रटना यही लगाऊँ ।।
धर्मात्मा निकट हों, चर्चा धरम सुनायें ।
वे सावधान रक्खें, गाफिल न होने पाऊँ ।।
जीने की हो न वाञ्छा, मरने की हो न इच्छा ।
परिवार-मित्र जन से, मैं मोह को हटाऊँ ।।
जागे जो भाव पहिले, उनका न होवे सुमरण ।
मैं राज्य सम्पदा या, पद इन्द्र का न चाहूँ ।।
दृग तीन रत्न पालन, हो अन्त में समाधि ।
बस प्रार्थना यही है, जीवन सफल बनाऊँ ।।टेक।।

दो शब्द

"अन्त: क्रियाधिकरण" तपः पूत जीवन का अन्तिम कर्तव्य सल्लेखना है, इसीलिए आचार्यों ने चरणानुयोग के प्रायः सभी ग्रन्थो मे समाधिमरण का प्रतिपादन किया है। समाधिमरण की विधि का आद्यन्त वर्णन शिवकोटि आचार्यकृत मूलाराधना ग्रन्थ मे है। इसी ग्रन्थ की हिन्दी टीका प० सदासुखदासजी कृत है, जो भगवती आराधना के नाम से प्रसिद्ध है।

अपने कर्तव्यो का ज्ञान करने के लिए साधुवर्ग इस परमोपकारी महा ग्रन्थ का स्वाध्याय अपने जीवनकाल में तो कई बार करते ही है, किन्तु ऐसा भी अनुभव मे आया है कि जब भी कोई साधु समाधि के सम्मुख होता है, तब उसे गुरुजनो के द्वारा सर्व प्रथम इसी ग्रन्थ का स्वाध्याय सुनाया जाता है। इस ग्रन्थ मे उपसर्ग प्राप्त मुनिराजों के अनेक नाम आये है, जिनकी अधिकाशत: कथाएँ आराधना कथा कोश आदि ग्रन्थो मे प्रकाशित हो चुकी हैं।

समाधिमरण की सफलता, आलोचना पर निर्भर है। यदि क्षपक ने अपने पूर्व कृत दोषो की आलोचना गुरु के समीप निर्दोषरीत्या की है, तो समाधि ठीक ही होती है, और यदि आलोचना मायादोप से युक्त हुई है, तो समाधि नियम से विगड़ती है। यह वात आगम प्रत्यक्ष तो है ही किन्तु अनुभव प्रत्यक्ष भी है, इसीलिये अनुमानत: एक वर्ष से यह भाव वन रहे थे कि साधुओ

इस वर्ष सवाईमाधोपुर वर्षायोग के समय प० लाडली-प्रसादजी "नवीन" के सौजन्य से जिसका लेखक अज्ञात है, ऐसे किसी जीर्ण शीर्ण शास्त्र के मात्र बारह पत्र अर्थात् २४ पृष्ठ प्राप्त हुए थे। इसमे लेखक ने समाधिमरण धारण करने वाले गृहस्थ द्वारा सुन्दर उद्‌बोधन दिलाये है। भेदविज्ञान प्राप्त करने के लिए भी इसमे बहुत सुन्दर सामग्री है। इसकी भाषा एकदम ढूँढारी थी। लेखनी सुवाच्य किन्तु अत्यन्त अशुद्ध थी। इस (म्हाणे थाणे) भाषा लिखने का मुझे अभ्यास नही और मेरी समझ से जन साधारण मे उसका उपयोग भी नही होता, अत इसका भाषान्तर किया गया है। अपनी ओर से मैंने इसमे कुछ भी हीनाधिकता नही की। यहाँ तक कि वाक्यो को सुन्दर बनाने के लिए पदो एव शब्दो का चयन भी नही किया। उसमे जहाँ जो शब्द थे उन्ही को हिन्दी मे लिख दिया है।

इस ग्रन्थाश का प्रकाशन विषय की दृष्टि से और अज्ञात लेखक की प्राचीन कृति को सुरक्षित रखने की दृष्टि से किया जा रहा है, आशा है समाज इसकी सुन्दर शिक्षा को हृदयाङ्गत करके इसका सदुपयोग करेगी।

पुस्तक का मेटर प्रेस मे भेजने की तैयारी हो रही थी, उसी समय श्री सीताराम जी पाटनी (कलकत्ता) आ पहुँचे, और पुस्तक प्रकाशन का भार आपने अपनी भाभी श्री बसन्ती बाई के ऊपर सौंप दिया। पञ्चम काल मे इसप्रकार (बिना याचना) की उदारता भी सराहनीय है।

—आर्यिका विशुद्धमति

२०१४ मे ही आपके आत्मिक कुटुम्ब की वृद्धि हुई और विश्व वन्दनीय ३६ मूलगुण सहचारी बनकर क्रीडास्थल मे अवतरित हुये जो सं० २०२५ तक सच्चे सुहृद की भांति निर्बाध रूप से साथ रहे।

सं० २०२५ फाल्गुन कृष्णा अमावस्या, १६ फरवरी १९६९ रविवार को मध्याह्न वेला मे ३–१५ पर जन्म के प्रतिपक्षी मरण (समाधि) ने उस तेजोमयमूर्ति को उसी प्रकार कवलित कर लिया, जिस प्रकार अमावस्या चन्द्रमा को आत्मसात् कर लेती है। उसी समय आपके द्वारा सरक्षित, सवर्धित, संस्कारित एवं अरोपित (लगाये हुये) पौधे वियोग रूपी प्रचण्ड ताप से कुम्हलाते हुये देखे गये, और तभी से आज तक वे अपने निर्व्याज बागवान की ससार विच्छेदनी स्मृतियो को अपने हृदयरूपी भण्डार गृह मे सजोये हुये रखे है। उनमे से आपकी चिरवियोगरूपी स्मृति जब कभी गुरुभक्तिरूपी स्रोतो से प्लावित हृदय को आडोलित कर देती है तब प्रकृति की निष्ठुरता पर मन आश्चर्यान्वित हो उठता है कि प्रकृति मा ने यदि वियोगरूपी ज्वाला को उत्पन्न किया था तो उसे स्मृति रूपी दाह को उत्पन्न नही करना चाहिये था। अर्थात् या तो इष्ट का वियोग ही न हो और यदि वियोग होता है तो उसकी स्मृति न आवे ! किन्तु नही, यह मोही मन का गर्हित पहलू है। यदि तत्त्व की अगाध गहराई मे अवगाहन कर अन्वेषण किया जाय तो ज्ञात होता है कि सयोग की अपेक्षा वियोग ही व्यक्ति के व्यक्तित्व मे विशेष अभिव्यक्ति उत्पन्न कराता है और पञ्च-

मोक्षमार्ग के प्रेरणात्मक स्रोत, जनजन के हितैषी, धर्ममूर्ति, धर्मसरक्षक, तप शूर, तप.पूत, स्याद्वादवाणी के अजस्र धारा प्रवाही, एव शिव (कल्याण) के सागर थे। आकाश मण्डल स्थित तारागणो के सदृश आपके गुणो की गणना कर सकने मे कौन समर्थ हो सकता है ? आपके गुणो के आप ही विशेष्य और आप ही विशेषण थे। आज आपका पार्थिव शरीर दृश्यमान नही है किन्तु आपका सदुपदेश रूपी सौरभ आज भी हृदय को सुवासित कर रहा है। आपकी तेजोमय आभा क्षितिज और अन्तरीक्ष मे व्याप्त आज भी भक्तो को ज्योति प्रदान कर रही है।

परोपकार ही आपके जीवन का व्रत था और इसी व्रत के पालनार्थ ही शायद आपने अपना पार्थिव शरीर फाल्गुन कृष्णा अमावस्या को छोडकर हम लोगो का अन्त पर्यन्त उपकार किया है। हे गुरुदेव ! यदि आप एक दिन पूर्व या एक दिन पश्चात् इस महाप्रयाण के लिये प्रस्थान करते तो परम पूज्य आचार्य कल्प श्रुतसागरजी महाराज की जन्म जयन्ति हमें कौन मनाने देता ? १२ वर्ष पर्यन्त छाया सदृश निरन्तर साथ रहने वाले अपने अनन्य भक्त गुरुभाई की जन्मजयन्ति मनाने का शुभ सकेत करने के लिये ही मानो आपने अपनी स्वर्ग यात्रा के लिये अमावस्या को प्रयाण किया था क्योकि उसी दिन परमोकारी पूज्य श्रुतसागरजी महाराज की आत्मा ने मानव देह के माध्यम से जन्म लिया था। जिस काली अमावस्या ने

जन्म जयन्तियाँ—किसकी और क्यों मनाना चाहिये ?

[श्री १०५ पू० आ० विशुद्धमति माताजी]

इस ससार मे सबसे अधिक दु:ख जन्म-मरण का है। सामान्यत. जब कोई जीव जन्म लेता है तभी यह निश्चय हो जाता है कि अब इसे मरण-वेदना अवश्य भोगना पड़ेगी। इसी प्रकार जब कोई मृत्यु को प्राप्त होता है तब उसके जन्म का भी निश्चय होजाता है। विशेष इतना है कि जो मृत्यु को प्राप्त होता है उसका जन्म अवश्य होता है किन्तु जो जन्म लेता है वह मृत्यु का वरण करे या न भी करे। जिस मरण के आगे जन्म की छाया खडी रहती है उसे मृत्यु कहते हैं और जिस मरण के बाद जन्म नही होता उसे निर्वाण कहते है।

इस जन्म मरण के चलते हुये चक्र मे कुछ ऐसे भी चरमोत्तम देहवाले महापुरुष जन्म लेते हैं जो जन्म लेकर भी मरण को प्राप्त नही होते, अपितु उनका निर्वाण होता है। जब आयु कर्म के निषेको के साथ २ अनादि काल से आत्मा के साथ सम्बन्ध रखने वाले तैजस कार्माण शरीर भी हमेशा के लिये नष्ट होजाते है तब उस मरण को मरण न कह कर निर्वाण कहा जाता है। वैसे मूलाराधना के कर्ता श्री शिव-

असंख्यात प्राणी जन्म लेते है। वैसे जन्म धारण करना कोई अति प्रमोद या प्रसन्नता की वात नही है, क्योकि उसका जन्म सामान्यत: भूत और भविष्य इन दो कालों की मृत्यु का सूचक है, अर्थात् भूतकाल मे अवश्य कही मरण किया है तव यहा जन्मा है और चूंकि जन्मा है, अत: भविष्य मे पुन:मरण होगा। किन्तु उपर्युक्त जो प्रथम श्रेणी के महापुरुषो का जन्म है वह अत्यन्त प्रमोद का कारण है, क्योकि उनका यह अन्तिम जन्म है, अब वे कभी जन्म न लेगे। इस वर्तमान भरतक्षेत्र मे ऐसे पुण्य पुरुषो के जन्म का अभाव है। द्वितीय श्रेणी के महापुरुषो का जन्म यत। अन्तिम जन्म नही ततः जन्म शृङ्खला को छिन्न करने का परम पुरुषार्थ उन्होने प्रारम्भ कर दिया है, अत उनका जन्म लेना भी सार्थक है।

जिस प्रकार अत्यन्त प्रिय इकलौते पुत्र के गुम जाने पर संसारी जनो का मन निरन्तर उसी की चिन्ता मे निमग्न रहता है, जितनी भी क्रियाएँ वे करते हैं सब उसी की खोज या प्राप्ति के लिये करते है। इसी प्रकार "मेरा अजन्मा नाम का पुत्र अनादि काल से लापता है"—ऐसा जिन्हे बोध प्राप्त हुआ है उनकी मन, वचन एव काय की सम्पूर्ण क्रियाए जन्म सन्तति का छेद कर अपने अजन्म स्वभाव मे स्थित रहने के लिये ही होती है। इतना ही नही अन्य प्राणियो को भी वे ऐसा ही मंत्र सिखाते है जिससे वे भी अपनी जन्म परम्परा का नाश कर मोक्ष के भाजन बनते हैं।

तथा अपनी, जन्मावली को नष्ट करने के उद्देश्य से ही महापुरुषों की जन्म जयन्तिया मनाई जा रही है। पटना नगर मे एक नन्द नाम का राजा राज्य करता था। उसके प्रधान मत्री का नाम शकटाल था। एक वार राजा ने नाराज होकर कुटुम्ब सहित शकटाल को तहखाने मे वन्द करवा दिया। तहखाने के ऊपर केवल इतना छोटा छिद्र रक्खा कि जिसमे से केवल एक सकोरा अन्दर जा सकता था। उसी द्वार मे से उसे प्रतिदिन थोड़ा सा अन्न और जल दिया जाता था। जब प्रथम दिन भोजन आया तव उसने अपने कुटुम्बियो से कहा कि इस अन्न को ग्रहण करने का अधिकार उसे ही है जो नन्द वश को निरवश करने की शक्ति रखता हो। जिस प्रकार राज्य से प्राप्त भोजन का अधिकारी वही था जो नदवश को निरवश करने की शक्ति रखता था, उसी प्रकार जन्म जयन्तियो के अधिकारी वही हैं जो जन्म मरण के राजा मोह को निरवंश करने की शक्ति रखते हैं।

जिस प्रकार स्वाति नक्षत्र मे जल तो वहुत वरसता है किन्तु मोती उसी का वनता है जो सीप के मुख मे चला जाता है। उसी प्रकार ससार मे जन्म लेने वाले प्राणी तो वहुत है, किन्तु जन्म जयन्तियां उन्ही की मनाई जाती हैं जो वाह्याभ्यन्तर तपश्चरण रूपी सीप के मुख मे जाकर रत्नत्रय रूपी मोती वनते हैं।

आत्मा का कभी जन्म नही होता, जन्म होता है शरीर

परम पूज्य १०८ आचार्यकल्प

श्री श्रुतसागरजी महाराज की

संक्षिप्त जीवन झांकी

[ले० श्री १०५ पू० आ० विशुद्धमति माताजी]

स० १९६२ फाल्गुन वदी अमावस्या को कलकत्ता शहर मे पिता छोगमल सेठ के गृह मे मा गज्जोदेवी ने शुभ लक्षणो से युक्त एक पुत्ररत्न को उत्पन्न किया। माता पिता ने आपका शुभ नाम गोविदलाल अपर नाम फागूलाल रखा। शुक्रवार के दिन शतभिषा नक्षत्र और शिव योग मे जिस समय बालक का जन्म हुआ था उस समय कुम्भ लग्न का उदय था तथा कुम्भ का ही नवाश था। सूर्य, चन्द्र, बुध, शुक्र और शनि ये पाच ग्रह कुम्भ राशि पर स्थित थे। मगल मीन का, केन्द्र मे गुरु वृष का तथा राहु कर्क का था। पाचो ग्रहो की युति बालक के सन्यास को, भाग्येश (उच्चाभिलाषी) शुक्र लग्न मे है अतः बहुगुण सम्पन्नता, दानशीलता, धर्म की आधारता (धर्मात्मा) तथा राजाओ के भी राज्यपने को सूचित कर रहा था। लग्न मे कुम्भ का शनि भी अधिनायकपने को सूचित करता है। निर्दोष गुरु केन्द्रस्थ है अत बालक के पाण्डित्य लक्ष्मी को, कौतुक एव रसिक स्वभाव को, दीक्षा की प्रवीणता, शिष्य-सम्प्रदाय से समन्वितपने को, स्थिरमति, सत्कर्मो मे प्रीति एव स्वपराक्रम से सुख एव उन्नति के उपार्जनपने को सूचित कर

आपका जन्म ओसवाल जाति मे हुआ था। वैसे प्रव्रज्या एव विद्वत्ता आदि तो ओसवालो मे भी होती है किन्तु आपकी मातेश्वरी ने बचपन से ही दिगम्बरत्व वीतराग धर्म की घूँटी पिलाई थी। यहा आपकी कुण्डली के केन्द्रस्थ पाच ग्रहों के मध्य शनि ग्रह बलवान है और यह ग्रह नग्न दिगम्बर वीतराग साधुपने (नग्नश्रवण सौरो) का द्योतक है तथा पुरुपार्थ भी प्रबल था। अत. दिगम्बर भेप धारण कर जैन धर्म का अपूर्व उद्योत करते आ रहे है और आगे भी करेंगे। २१ वर्ष को अल्पवय मे ही आपके मन मे वैराग्य के अकुर पैदा हो चुके थे।

अत. अव्रती अवस्था मे ही साधना करना प्रारम्भ कर दी थी। मध्याह्न के भोजन मे यदि भाग्यवशात् बाल आदि निकल आता तो भोजन छोड देते और फिर उस दिन दूसरी बार जल भी ग्रहण नही करते थे। तथा जिस दिन मध्याह्न का भोजन ठीक हो जाता उस दिन शाम को भी भोजन कर लेते थे। बीच-बीच मे कई बार प्रतिज्ञा कर लेते थे कि दो रोटी मे अधिक ग्रहण नही करु गा, दो रोटियो का भोजन करके भी धनार्जन के लिए दूकान मे बारह बजे रात्रि तक परिश्रम करना, धूप आदि मे भी दौड़ धूप करनी पड़ती थी। जब रात्रि मे जल ग्रहण करते थे तब प्राय यह नियम रखते थे कि अपने आप कोई जल देगा तो पिऊँगा, मुख से मागकर या हाथ मे लेकर नही पिऊँगा। ६ वर्ष का होनहार बालक ३-४ घटे की बीमारी मे स्वर्गस्थ हो गया परन्तु चिन्ता और

शोक का नाम नही। उस समय दूसरो को इस प्रकार समझाते देखे गये मानो बालक से स्वयं का कोई सम्बन्ध ही न हो। व्यापार बहुत किया किन्तु कभी छल, कपट या मायाचारी से धनार्जन नही किया। अनीति और अन्याय से सदा भयभीत, गरीबो पर अनुकम्पा, गुणवान् पुरुषो मे वात्सल्य और गुरुओ के प्रति भक्ति हमेशा रही। आपका सिद्धान्त था कि "गरीबो को सताना ही गरीबी साथ लाना है" अर्थात् यदि घर मे दरिद्रता को निमन्त्रण देना है तो गरीबों को सताना। जैसा भोजन आप स्वय करते थे वैसा ही नौकरो और भिखारियो को देते थे। गृह मे भी सबको यही शिक्षा देते थे कि गरीबो और भिखारियो को उत्तम वस्तुओं की प्राप्ति अति अल्प होती है अत उन्हे जब भी देना उत्तम वस्तु ही देना। गृहस्थ अवस्था मे भी आपका कोई शत्रु नही था। किसी भी बात की गाँठ बाध कर रखने का स्वभाव आपका प्रारम्भ से ही नही है। हाँ! अनुशासन करने का स्वभाव प्रारम्भ से ही है। स्वत कभी अनीति नहीं करते और न कभी दूसरो के द्वारा की हुई अनीति को सहन ही कर पाते हैं। गार्हस्थ्य जीवन मे भी आपके हृदय मे जिनेन्द्र भक्ति की उत्कटता थी। पूजन की पूरी सामग्री एकत्रित कर पूजन करने खड़े होते थे। पूजन करते हुये यदि थाली मे से कोई द्रव्य ले जाय तो ठीक और थाली मे द्रव्य रख जाय तो ठीक। आप पूजन के मध्य कभी मौन खण्डित नहीं करते थे। एक बार जरा देर रुक कर खड़े हो जाते

वहा से पूजन समाप्ति तक पैर नही हिलाते थे, भले पूजन मे पौन घटा लगे या एक घटा। पूजन के समय आपके मन मे आकुलता उत्पन्न नही होती थी। एक घंटे मे मात्र दो पूजन हों तो चिन्ता नही, किन्तु पूजन होना चाहिये शान्ति पूर्वक। जयमाल बोलते समय भगवान के गुणो मे तन्मय होते हुये आत्मविभोर हो जाते थे। आप कहा करते हैं कि भगवान की पूजन ने ही मुझे यहा तक पहुँचा दिया है। दश लक्षण पूजन के ब्रह्मचर्य व्रत का पद बोलते हुये जिस समय "कूरे तिया के अशुचि तन मे काक ज्यो चोचे भरे" पक्ति बोलते थे उस समय अपने मन मे इसका रूपक बनाते हुये जब अपने आपको काक स्थानीय अनुभव करते थे तब शरीर मे रोमाच हो जाता और आत्मा आत्मग्लानि से चीत्कार कर उठती थी। उसका यह फल हुआ कि ब्रह्मचर्य व्रत की साधना के लिये आप रात्रि का विश्राम बेलगछिया मे करने लगे। कुछ माह व्यतीत होने पर आपने विचार किया कि इस प्रकार दूर दूर रहने से मन की वासना मरी या नही इसकी परीक्षा कैसे होगी ? उसी दिन से घर मे रहना प्रारम्भ कर दिया। स्थान की सकीर्णता के कारण एक ही कमरे मे सोते बैठते। यहा तक कि धर्मपत्नि से वैयावृत्य आदि कराते हुये भी जब मन चचल एव विकारी नही हुआ तब रक्षा बन्धन के पुनीत पर्व पर धर्मपत्नि के प्रति होने वाले स्त्रित्व भाव का परित्याग कर उनमे बहिन भाव का आरोपण कर कलाई पर रक्षासूत्र बधवा कर बहिन शब्द

से सम्वोधन किया । इसके वाद यम रूप से ब्रह्मचर्य व्रत (४७ वर्ष की वय मे) ग्रहण किया । इस प्रकार कठोर भावना के वल पर आत्मशक्ति का प्रादुर्भाव और मोह का तिरोभाव कर छोटे छोटे वालक वालिकाओ को छोड़ कर ४६ वर्ष की वय मे क्षुल्लक दीक्षा और करीव ५१ वर्ष की वय मे जैनेन्द्री दीक्षा धारण कर ज्ञानाराधना और आत्मसाधना मे रत हो गये ।

आपकी मुनि दीक्षा के एक माह उपरान्त ही दीक्षा गुरु परमपूज्य आचार्य वर्य १०८ श्री वीरसागरजी महाराज का स्वर्गवास होगया और पट्टाधीश आचार्य पद को परम पूज्य १०८ श्री शिवसागरजी महाराज ने अलकृत किया । यह आपकी ही अनुकरणीय विशेषता रही जो गुरु भाई को गुरु सदृश ही मान्यता देकर १२ वर्ष (उनकी आयु समाप्ति पर्यन्त) साथ रहे । एक दिन को भी आपने स्वतन्त्र विहार नही किया । आगम के आदेशानुसार (द्वादशवर्षाणि गुरुपादाचाराधनीयाविद्यागमे) १२ वर्ष पर्यन्त गुरुकुल सेवन कर नाना प्रकार के अनुभव प्राप्त किये । गृहस्थावस्था मे जिस प्रकार आप सन्तानों का यथोचित पालन करते हुये भी कभी माता पिता से विमुख नही हुये उसी प्रकार सघ मे भी जितना वात्सल्य आपमे लघु साधुओं एवं शिष्यादिकों पर रखते है उससे कहीं अधिक भक्ति गुरुजनों के प्रति देखने मे आती है । स्वप्न मे भी कभी अपने से बड़ों की अवज्ञा या और छोटों के प्रति उपेक्षा का भाव आप के दिखाई नहीं दिया ।

वस्तुतत्त्व की निर्णयात्मकशक्ति, तर्कणाशक्ति, चिन्तन-शक्ति और वचनों मे संतापित हृदयो को शान्त करने की अचिन्त्य शक्ति आपमे है। वैसे तो आपमे सम्यक्त्व के आठो अगो की आभा स्फुटित होती है किन्तु हृदय की समुद्रवत् गम्भीरता उपगूहन अग का और समयोचित हित, मित, सुमधुर वाणी स्थितिकरण अग का विशेष उद्योत करती हैं। वात्सल्य गुण की तो आप मानो साक्षात् मूर्ति ही हैं। इन्ही गुणो के कारण आप जन जन के श्रद्धा भाजन बने हुये है और कल्याणेच्छु प्राणी कल्पवृक्ष सदृश आपके चरणो की सानिध्यता प्राप्त कर अपनी भवसन्तति को छिन्न करने की शक्ति संचय कर रहे हैं। आस्तिक्यभाव भी आपमे अति विशेष है, किन्तु स्वाध्याय करते समय जब कभी भी नरक तिर्यंच आदि गतियो के दुखों का वर्णन या और भी कोई चारित्र आदि के प्रकरण सामने आते हैं तब संवेग भाव रूपी गगा का बहनेवाला प्रवाह श्रोताओ का प्रक्षालन किये बिना नही रहता।

डिग्री प्राप्त शिक्षण न होते हुये भी कठोर तपश्चरण के प्रभाव से आपमे विषयकी सूक्ष्म पकड, जटिल शकाओ का समाधान, गद्य पद्य आदि रचनाओ मे वाक्यविन्यासो का समन्वय, त्रिलोकसार जैसे करणानुयोग रूपी सघन वन मे सरलता पूर्वक प्रवेश करने की अपूर्व और आश्चर्योत्पादक क्षमता है।

ख्याति, पूजा-लाभ रूपी राक्षसो से भयभीत आपकी

आत्मा में निर्लोभता, निष्कपटता, उदारता और सरलता आदि ऐसे अनुकरणीय गुण विद्यमान हैं जिनसे आकर्षित होकर प्रतिवर्ष वर्षायोग मे समाज के गणमान्य पण्डित जन एवं प्रतिष्ठि जन भी आकर धर्म-लाभ उठाते हैं।

विशाल संघ का सुचारु रूप से संचालन करते हुये आपका मंगल पदार्पण जहां भी होता है वही धर्मामृत की वर्षा द्वारा मिथ्यात्व रूपी ताप से संतप्त सहस्रों नरनारियो को शान्ति प्राप्त होती है। आप जहां जाते हैं वहां के पुराने से पुराने सामाजिक एवं व्यक्तिगत वैमनस्यो का निपटारा सहज ही कर देते हैं। आपका वक्तव्य प्राय. सूत्ररूप, प्रभावक और हृदय स्पर्शी होता है।

पूर्वावस्था से सम्बन्ध रखने वाली आपकी लघु पुत्री कुमारी सुशीला ने आदर्श पिता के चरण चिह्नो का अनुसरण करते हु २७ वर्ष की अल्प वय मे धर्मदिवाकर १०८ आचार्य श्री धर्म सागरजी महाराज से आर्यिका व्रत ग्रहण कर "कुम्हार जैसा लोटा बाप जैसा बेटा' कहावत को चरितार्थ कर दिखाया है।

फाल्गुन कृ० अमावस्या सं २०३२ की मंगलमय सुप्रभा वेला मे आप अपने स्वर्णिम ७० वर्ष व्यतीत कर ७१ वें वर्ष पदार्पण कर रहे हैं। आपका आगामी वर्ष आत्मिक सुख शान्ति मय व्यतीत हो, रत्नत्रय की वृद्धि हो, आप चिरायु हों और जि प्रकार स्वाति नक्षत्र मे सीप के भीतर प्रवेश करनेवाला जल मो रूप मे प्राप्त होकर चिरकाल तक प्राणियों के शारीरिक मन का हित करते हुये अपनी अनुपम आभा से सज्जन पुरुषो

उत्तमाग को शोभायमान करता है उसी प्रकार इस नि कृष्ट काल मे भी वाह्याभ्यन्तर तपश्चरण रूपी सीप मे प्रवेश कर रत्नत्रय रूपी मोती पर्याय मे प्रगट होनेवाले आप अपनी आत्मिक शान्ति द्वारा जीवो के अभ्यन्तर सताप को विनष्ट करते हुये अपनी हित, मित, प्रिय वाणी रूपी आभा से युगयुगो तक भव्य जीवो का कल्याण करते रहे यही आन्तरिक अभिलाषा है।

मैं भी आप जैसे तारणतरण गुरुवर्यरूपी कल्पद्रुम की छाया के आश्रय ही अपने लिये हुये व्रतो की प्रतिपालना निरन्तर करती रहूँ और अन्त मे समाधिमरण की प्राप्ति करूँ यही सर्व कल्याण के केन्द्रीभूत वीर पभु से अन्तिम प्रार्थना है।

परम पूज्य श्रुतसिन्धु १०८ आचार्यकल्प

श्री श्रुतसागरजी महाराज के ७१ वें जन्म दिवस पर

卐 श्रुत वन्दना 卐

आदर्श मोक्षपथचारी, हे समताधारिन्! शत शत वन्दन।
चारित्र शिरोमणि, करुणामय, हे भवहारिन्! शत शत वन्दन ॥१॥
यम नियम शील शम दम धारी, हे अनगारिन्! शत शत वन्दन।
कल्याणमयी सम्पर्क प्रभो, हे उपकारिन्! शत शत वन्दन ॥२॥
परवस्तु त्याग निज आतम के, हे रस स्वादिन्! शत शत वन्दन।
श्री शान्ति सुधारस अवतारी, हे अघहारिन्! शत शत वन्दन ॥३॥
श्रुतिगम्य विलक्षणमति धारी, हे श्रुतशालिन्! शत शत वन्दन।
नय तर्क शिरोमणि सुखकारी, हे जगतारिन्! शत शत वन्दन ॥४॥
सामायिक समता मनभावी, हे गुणधारिन्! शत शत वन्दन।
गरिमा है तुम पर हम सबको, हे व्रतधारिन्! शत शत वन्दन ॥५॥
रत्नत्रय शैल विचरते हो, हे मृगचारिन्! शत शत वन्दन।
मद मोह बली को जीत लिया, संयमधारिन्! शत शत वन्दन ॥६॥
हार बना सद्ज्ञान, सुधी, हे श्रुतधारिन्! शत शत वन्दन।
रागादिक को निज दूर करो, शिवमगचारिन्! शत शत वन्दन ॥७॥
सब जग स्थित है [illegible], हे [illegible]! शत शत वन्दन।
बैठा है ध्वज विराट हो, श्रुतसागरिन्! शत शत वन्दन ॥८॥

पार्श्वप्रभु के चरणयुग, पूजूं मन वच काय।
हो समाधि आशीष दो जन्म मरण नश जाय॥

जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित छह द्रव्योमे जीव द्रव्य सर्वोपरि है, क्योंकि वह चैतन्य गुणसे उपलक्षित है। ये जीव द्रव्य अनन्तानन्त हैं, जिनमे अनन्त जीव तो अपने समीचीन पुरुषार्थके द्वारा शुद्धात्मानुभूतिके अवलम्बनसे अपने स्वस्वभावको प्राप्त कर चुके हैं, किन्तु टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावी होते हुये भी अनन्तानन्त जीव अपने स्वभावकी श्रद्धाके अभावमे ससार रूपी चक्की के जन्म मरण रूपी दो पाटोके बीच अनादि कालसे पिसते हुये चले आ रहे है। रात और दिनके सदृश जन्मके बाद मृत्यु और मृत्युके बाद जन्मका अनादि प्रवाह सम्बन्ध प्रत्येक ससारी प्राणीके साथ है।

"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्ममृतस्य च" इस नीत्यानुसार जिसका जन्म है उसकी मृत्यु अवश्य है, और जिसकी मृत्यु है उसका जन्म भी अवश्यंभावी है। आयुक्षयके कारण प्राप्त शरीरके अथवा दश प्राणोंके विनाशका नाम मृत्यु है और आयु-कर्मके उदयवशात् मनुष्य आदि स्थूल व्यञ्जन पर्यायोंमे दश आदि प्राणोके साथ जीवका आविर्भाव होना जन्म है। जन्म लेनेके बाद

देव आदि व्यञ्जन पर्यायोमे जीवका अवस्थान अधिकसे अधिक ३३ सागर और कम से कम एक श्वासके अठारहवे भाग अर्थात् क्षुद्रभव प्रमाण है । मध्यम अवस्थानके असंख्यात भेद है । इस स्थिति मे यदि हम त्रैराशिक विधिके अनुसार भूतकालमे होने वाले अपने मरणो की सख्या निकाले तो कल्पना कीजिये कि वह कितनी होगी ? अनन्तानन्तसे कम तो नहीं होगी । अर्थात् अनन्तानन्त वार यह जीव जन्म और मरण कर चुका है, फिर भी इसे इन क्रियाओमे अनादर उत्पन्न नही हुआ, यह महान् आश्चर्य है । "अतिपरिचितेष्ववज्ञा नवे भवेत् प्रीतिरिति" इस आगम वचनानुसार भी इन जन्म मरण की अतिपरिचित क्रियाओमे अवज्ञा होना चाहिये थी किन्तु नही हुई, इसी कारण यह ससार भी नही छूटा ।

"मरण प्रकृति· शरीरिणाम्" अर्थात् मरना देहधारियो का स्वभाव है और "स्वभावोऽतर्कगोचर" स्वभावमे तर्क नही फिर मरणमे भय क्यो ? क्या डरने पर यह मरण हमे डरपोक समझकर छोड देगा ? क्या मरण मे कोई रक्षा कर सकेगा ? नही । फिर मरण-समय कायरता क्यो ? मानव को भय तो उन विषयो मे होता है जिसका उसे परिचय नही होता, किन्तु हमारा तो इस मरण मे मात्र एक दो बार नही प्रत्युत अनन्त बार परिचय हो चुका है तथा इस क्रिया का रोगादि के द्वारा, क्षुधादि के द्वारा, अति शीत, अति उष्णता के द्वारा या तीव्र क्रोधादि के आवेश मे आत्म विषभक्षणादि के द्वारा एव अज्ञानता वश अग्नि प्रवेश, जल प्रवेश

श्वास निरोध, शस्त्र प्रयोग एवं गिरि-पात आदि के द्वारा मरण करके खूब अभ्यास भी किया है, फिर भी हमें इस मृत्यु से भय ही होता है, क्योंकि अभी तक हमें इसकी यथार्थता का परिचय नहीं हुआ। जिन महापुरुषों ने इस मरण की यथार्थता को आत्मसात कर लिया है उन्होंने इस मरण को मृत्यु महोत्सव कहा है, क्योंकि मृत्यु सदृश उपकारी अन्य कोई नहीं है।

मृत्यु की विलक्षणता का समीचीन दिग्दर्शन, मात्र जैन दर्शन कराता है, क्योंकि जैन दर्शन जिसप्रकार जीवन के मार्ग को प्रशस्त बताता है, उसी प्रकार मरण के मार्ग को भी प्रशस्त बताता है और मरण की इसी प्रशस्तता का अपर नाम सल्लेखना या समाधिमरण है।

सल्लेखना का लक्षण:—

"सम्यक्कायकषायलेखना, कायस्य बाह्याभ्यन्तराणां कषायाणां तत्कारणहापनक्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखना" (पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि ७-२२) अर्थात् सम्यक् प्रकार से काय और कषाय को कृश करने का नाम सल्लेखना है। बाह्य और अभ्यन्तर अर्थात् शरीर और रागादि कषायों का उनके कारणों को क्रमश: कम करते हुए स्वेच्छा पूर्वक कृश करने का नाम सल्लेखना या समाधिमरण है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, तप, त्याग और संयम आदि गुणों के द्वारा चिरकाल तक आत्मा को भावित

शरीर होता है, आचारसार मे वीरनन्दि आचार्य कहते है कि जब चूल्हे मे जलाई जाने वाली लकडी भी सिर पर रखकर लाई जाती है तब क्या मोक्ष प्राप्ति का साधनभूत यह शरीर प्रयत्नपूर्वक रक्षणीय नही है क्या ? अवश्य है, किन्तु इसकी रक्षा तभी तक योग्य है जब तक यह हमारे रत्नत्रय के पालन मे सहयोगी है, इसके बाद तो इसे सल्लेखना पूर्वक कृश करना ही चाहिए । इसी बात को पूज्यपाद स्वामी दृष्टान्त पूर्वक कहते है कि —

मरणस्यानिष्टत्वाद्यथा वणिजो विविधपण्यदानादान-सञ्चयपरस्य स्वगृहविनाशोऽनिष्ट , तद् विनाशकारणे च कुतश्चि-दुपस्थिते यथाशक्ति च परिहरति, दु परिहारे च पण्यविनाशो यथा न भवति तथा यतते । एव गृहस्थोऽपि व्रतशीलपण्यसञ्चये प्रवर्त-मान' तदाश्रयस्य न पातमभिवाञ्छति । तदुपप्लवकारणे चोप-स्थिते स्वगुणाविरोधेन परिहरति दु परिहारे च यथा स्वगुण-विनाशो न भवति तथा प्रयतते । (७–२२)

"मरण किसी को इष्ट नही है । जैसे अनेक प्रकार के रत्न आदि बहुमूल्य पदार्थो का व्यापार करने वाले किसी व्यापारी को अपने गृह का विनाश इष्ट नही है । यदि कदाचित् उसके विनाश के कारण उपस्थित हो जाय तो वह उसकी रक्षा का पूरा उपाय करता है, और जब रक्षा का उपाय सफल नही होता तब घर मे रखे हुये उन बहुमूल्य पदार्थो को निकाल लेता है और घर को अपनी आंखों के सामने ही नष्ट होने देखता है । इसी प्रकार व्रत-शीलादि गुणो का अर्जन करने वाले श्रावक और साधु भी उन

दृष्टि चले जाने पर, अटवी आदि में भटक जाने पर, मार्ग न मिलने पर तथा कर्ण आदि इन्द्रियों के निस्तेज हो जाने पर सल्लेखना धारण कर लेना चाहिये।

समन्तभद्राचार्य सल्लेखना का लक्षण इस प्रकार कहते हैं :—

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥१॥

गणधरादि देव प्रतीकार रहित उपसर्ग, दुर्भिक्ष, वृद्धता और रोग के उपस्थित होने पर धर्म के लिये शरीर छोडने को सल्लेखना कहते हैं ॥१॥

अचानक उपद्रव उपस्थित होने को उपसर्ग कहते हैं। तिर्यञ्च, मनुष्य, देव और अचेतन कृत होने से यह चार प्रकार का होता है। ऐसे प्रतीकार रहित उपसर्ग आदि के उपस्थित होने पर अपने रत्नत्रय गुणों की रक्षा के लिये कल्याणार्थी जीवों को सल्लेखना धारण कर लेना चाहिये।

सल्लेखना धारण क्यों करना चाहिये :—

मृत्यु प्राय. पर प्रत्यय से आती है अर्थात् मृत्यु आने के पूर्व कोई न कोई कारण अवश्य उपस्थित हो जाता है। इन्हीं कारणों को देख कर देह में आत्म बुद्धि रखने वाले अज्ञानी जन येन केन प्रकारेण अर्थात् भक्ष्याभक्ष्य आदि का विचार न रखते हुये इस भौतिक शरीर के संरक्षण की व्यग्रता को प्राप्त होते हुये

। स्वर्ग के अनुपम भोग, वलभद्र चक्रवर्ती, नारायण और प्रति-
।रायण आदि के पद तथा आज्ञाकारी स्त्री, पुत्र आदि परिकर,
च्छित वैभव, और सुन्दर सुडौल शरीर आदि की भी प्राप्ति हो
ती है किन्तु समाधिमरण की क्रिया के अभाव मे ससार का
द शीघ्र नही हो पाता, जबकि सल्लेखना पूर्वक शरीर परित्याग
ससार की अवधि सात आठ भव मे अधिक नही रहती, इसलिये
ल्लेखना रूपी असिधारा व्रत का पालन प्रयत्न पूर्वक करना
।हिये। तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्व पूर्वक किन्तु समाधिमरण
हित तपश्चरण आदि करने वाला प्राणी अधिक से अधिक
छ काल कम अर्धपुद्गल परावर्तन तक ससार परिभ्रमण कर
कता है, किन्तु सम्यक्त्व सहित किया हुआ तप एव चारित्र
ले;जीव यदि अन्त मे सन्यास विधि का आश्रय प्राप्त कर लेते
तो अल्पकाल मे ही मोक्ष के भाजन बन जाते है।

ल्लेखना का कालः—

इस नि.कृष्ट पञ्चम काल मे इगिनी और प्रायोपगमन
न्यास की प्राप्ति अति दुर्लभ है, मात्र भक्तप्रत्याख्यान सन्यास
ाध्य है। आचार्यों ने इसका उत्कृष्ट काल १२ वर्ष और जघन्य
ाल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कहा है। मध्यम काल के असख्यात भेद
। पूर्व कथित कारण उपस्थित होने पर तो यम अथवा नियम
ल्लेखना धारण करना ही चाहिये, किन्तु निमित्तज्ञान से अपनी
ल्प आयु का निर्णय करके भी सल्लेखना धारण करना
ाहिये।

पूर्व भव के पुण्योदय से या इस भव के शुभकार्यों से जिन व्यक्तियों में प्रमाण मनोवृत्ति वर्तमान है और जो उपपत्ति गुण का प्रयोग करना जानते हैं वे व्यक्ति यदि जिनेन्द्र भगवान की पूजन कर अथवा स्थिर चित्त होकर "ॐ ह्री णमोअरिहताण कमले कमले विमले विमले उदरदेवी इटि मिटि पुलिहिणी स्वाहा" इस मत्र का २१ बार जाप्य करके रिष्ट दर्शन करे तो कई वर्ष पूर्व मृत्यु का बोध हो सकता है।

जो व्यक्ति चन्द्रमा को नाना रूपों मे तथा छिद्रों से परिपूर्ण देखता है, अर्ध चन्द्र को मण्डलाकार देखता है, जो सप्त ऋषि एव ध्रुव आदि ताराओ को तथा दिन मे धूप नही देखता, ग्रहण के अभाव मे भी चन्द्रमा को ग्रहण सदृश रूप मे देखता है, सूर्य बिम्ब को छिद्रपूर्ण और अनेक रूपों मे देखता है वह व्यक्ति एक वर्ष से अधिक जीवित नही रहता।

जिसे सूर्य या चन्द्र के मध्य भाग मे काले या सुरमई रग की रेखा दिखाई दे, चन्द्र बिम्ब मे लाल रग के और सूर्य मे काले रग के धब्बे दिखाई दे, सूर्य बिम्ब लोहित वर्ण का और चन्द्र बिम्ब हरित वर्ण का दिखाई दे, सूर्य चन्द्र के बिम्बो को बाणों से बिद्ध या उनका कोई अश देखे, चन्द्रमा को मगल और गुरु के मध्य देखे, आ[illegible] समान शुभ ग्रह के समानान्तर दिखाई पड़े तथा [illegible] की स्थिति चचल मालूम हो वह छह मास से अधिक जीवित [illegible] रहता।

इस प्रकार अन्य चार, तीन और दो आदि मासो के अनेक रिष्ट दर्शन हैं जिन्हें आगम मे जानना चाहिये ।

रूपस्थ रिष्टः—

जहाँ रूप दिखाया जाय वहा रूपस्थ रिष्ट कहा जाता है । यह छायापुरुष स्वप्न दर्शन, प्रत्यक्ष, अनुमान जन्य और प्रश्न द्वारा देखा जाता है । इसके देखने की विधि एव अन्य सभी प्रयोग "रिष्ट समुच्चय" ग्रन्थ से जानना चाहिये ।

निर्यापकाचार की खोजः—

इस प्रकार किसी निमित्त विशेष से अथवा अन्य अनेक प्रकारो से अपनी आयु समीप जानकर अपने आचार्य आदि पद एव शिष्य आदि का परिग्रह त्याग कर प्रयत्न पूर्वक निर्यापकाचार्य की खोज करना चाहिए । अनेक गुणो से विभूषित एव चिरकाल से गुरुकुल का सेवन करने वाले मुनिराज को अपना आचार्य पद देकर उन्हे तथा समस्त सघ को अनेक प्रकार की शिक्षा देकर पश्चात् निर्यापकाचार्य का अन्वेषण करना चाहिए ।

जिस प्रकार छिद्रयुक्त और जर्जरित नौका समुद्र से पार उतारने मे असमर्थ होती है, उसी प्रकार गुणो से रहित निर्यापकाचार भी क्षपक की सल्लेखना का भलीप्रकार निस्तरण करते हुए, उसके ससारवल्लरी का छेद कराने मे समर्थ नही हो सकता, अतः ऐसे निर्यापकाचार्य का अन्वेषण करना चाहिए जो अनेक गुणो से अलकृत हो ।

निर्यापकाचार के गुणः—

निर्यापकाचार आचारवान्—पञ्चाचार से युक्त हो। आधारवान्—बहुश्रुत के धारी हो। व्यवहारवान्—गुरुपरम्परा मे प्राप्त हुए प्रायश्चित सूत्र के ज्ञान से जो विभूषित हो। प्रकर्ता—सर्व सघ की वैयावृत्य करने मे जो समर्थ हो। आयापाय विदर्शी—दीक्षा ग्रहण के दिन से संन्यास ग्रहण के समय तक रत्नत्रय मे लगे हुए दोषो की आलोचना करते समय मायाचारी करने वाले साधु को अपाय-रत्नत्रय का विनाश और उपाय-रत्नत्रय का लाभ, इन दोनो के गुण दोष समझा कर मायाशल्य को दूर करने मे निपुण हो। अवपीडक—मधुर वचनो द्वारा समझाये जाने पर भी यदि क्षपक मायाचारी छोडकर सत्यार्थ आलोचना न करे, तो जैसे सिंह अपने तेज से स्याल के उदर मे गये हुए मास को वमन करा लेता है, उसी प्रकार अपने तेजस्वी वचन द्वारा क्षपक के दोषो को बाहर निकाल कर उसे निशल्य बना देने वाला हो। अपरिस्रावी—क्षपक के द्वारा कहे हुए दोषो को अन्य किसी से प्रगट न करे। अर्थात् गम्भीर स्वभाव वाला हो। निर्वापक—तीव्र रोग आदि के कारण या क्षुधा आदि की वेदना असह्य हो जाने के कारण क्षोभित हो जाने वाले क्षपक की आराधना की पूर्णता के लिये अनेक उपायोका ज्ञाता हो। ऐसे अष्ट गुणो से युक्त निर्यापकाचार्य के समीप जाकर कृतिकर्म पूर्वक उनकी वन्दना करे, पश्चात् विनय करे कि हे भगवान्! आप [illegible] के पारगामी हो, श्रमण सघ के उद्धारक हो, परम हितकारी

हो, जगत के निर्व्याज बन्धु हो और हमारी संयमगुणों से भरी हुई तप रूपी जहाज को परिषह रूपी लहरों के क्षोभ से बचाते हुये संसार समुद्र से पार करने के लिये खेवटिया हो, अत: हे स्वामिन्! जिस दिन से मैंने दीक्षा ग्रहण की है उस दिन से आज तक के समस्त दोषों की सम्पूर्ण आलोचना आपके चरण कमलों में करके अपने संयम और तपश्चरण को सफल बनाने के लिये मैं सल्लेखना ग्रहण करना चाहता हूँ। हे गुरुवर! आपके अवलम्बन के बिना मेरे इस सल्लेखना रूपी असिधारा व्रत का निस्तरण सुचारु रूप से नहीं हो सकता, अतः आप मुझे ग्रहण करने की कृपा कीजिये, मैं अपना सम्पूर्ण जीवन आपके पवित्र चरण कमलों में समर्पित कर रहा हूँ, आज से जो आप मेरे विषय में आज्ञा करेंगे वह सब मुझे प्रमाण होगी।

समाधि साधक सामग्री का निरीक्षण :—

उस समय आचार्य समाधि की इच्छा रखने वाले मुनिराज को मधुर वाणी से सान्त्वना देकर क्षपक की समाधि निर्विघ्नता पूर्वक होगी या नहीं इसकी जानकारी के लिये निमित्त ज्ञान का अवलम्बन ले, तथा वहाँ की राजा एवं प्रजा कैसी है? क्षेत्र कैसा है? अपना स्वयं का सामर्थ्य कैसा है? वैयावृत्य करने वाले उत्साही हैं या उदासीन हैं? तथा भावी क्षपक क्षुधादि परिषहों को जीतने में समर्थ है या नहीं, सुखिया स्वभावी है या भेदज्ञान पूर्वक नाना प्रकार के तपश्चरणों द्वारा शरीर के सुख का त्यागी है? इत्यादि महत्त्व पूर्ण सभी विषयों का निरीक्षण करने के बाद

सर्व संघ से पूछ कर तथा सर्व संघ की सम्मति पूर्वक क्षपक को ग्रहण करे।

क्षमा याचना :—

उस समय भावी क्षपक का कर्तव्य है कि वह शोक, भय, खेद, स्नेह, द्वेष और अप्रीति (अरति) का, तथा रागद्वेष आदि का परित्याग करते हुये सर्व संघ से क्षमा याचना करे और अपने को दुःख देने वालों को अथवा शत्रु आदि को मन वचन और काय की शुद्धि पूर्वक स्वयं क्षमा करे, क्योंकि जो स्वयं दूसरों को क्षमा करते हैं और दूसरों से क्षमा कराते हैं वही इस दुर्लंघ्य संसार समुद्र को पार कर पाते हैं। क्षमा मांगने वाले को जो क्षमा नहीं करते वे दीर्घ संसारी होते हैं।

आलोच्य स्थान कैसा हो :—

जहाँ पत्र रहित वृक्ष हों, कटीले वृक्ष हों, बिजली द्वारा क्षत एवं अग्नि से जले वृक्ष हों, सूखे या कटुक वृक्ष हों, शून्य गृह, रुद्रदेव का स्थान, पत्थरों का ढेर, ईंटों का समूह, सूखे तृण, सूखे पत्र, सूखे काष्ठ एवं भस्म आदि का ढेर हो, अशुचि एवं श्मशान स्थान हो, अन्य नीच आदि मनुष्यों का स्थान हो तथा अन्य भी कोई अप्रशस्त स्थान हो वहाँ आचार्य भावी क्षपक की आलोचना ग्रहण न करे।

अरहन्त सिद्ध परमेष्ठियों की प्रतिमाओं के समक्ष अथवा उनके मन्दिरों में, पर्वतादिकों पर, समुद्र के समीप, कमल

सरोवरो के समीप, क्षीर वृक्षो एव पत्र पुष्प और फला से युक्त वृक्षो के समीप, उद्यान, वन, बागो मे स्थित महल, नागकुमारो एव यक्ष देवो के स्थानो पर तथा अन्य भी और प्रशस्त एव सुन्दर स्थानो पर आचार्य क्षपक की आलोचना ग्रहण करे।

दिशाओं का विवेचनः—

जिस प्रकार सूर्य के द्वारा अन्धकार का नाश होता है, उसी प्रकार क्षपक के कलुषित परिणामो का अभाव होकर शुद्ध परिणामो का उदय हो इस कारण आचार्य पूर्वाभिमुख विराजे। विदेह क्षेत्र स्थित विद्यमान तीर्थंकरो के ध्यान के हेतु अथवा क्षपक के विशुद्ध भावो की उत्तरोत्तर वृद्धि हो इस हेतु से आचार्य उत्तराभिमुख बैठ कर आलोचना श्रवण करे। क्षपक के अशुभ परिणामो का अभाव हो इसलिये जिनमन्दिर के सम्मुख और क्षपक कर्मवैरियों को जीतने मे समर्थ हो सके इसलिये जिनप्रतिमा के सम्मुख बैठ कर आचार्य क्षपक की आलोचना ग्रहण करे।

आलोचना के पूर्व-क्षपक को आचार्य का उपदेशः—

सम्पूर्ण आलोचना किये बिना समाधि ठीक नहीं होती इसलिये आलोचना करने के पूर्व ही करुणावान् आचार्य क्षपक को शिक्षा देते हैं कि—हे मुने! आप धैर्य के अवलम्बन से सम्पूर्ण सुखिया स्वभाव को छोड़कर परीषहो की सेना को अंगीकार करते हुये समाधि धारण करो। पाच इन्द्रियो के विषयो पर विजय प्राप्त करो और क्रोध आदि चारो कषायो का उत्तमक्षमा आदि के

द्वारा निग्रह करो। हे साधो ! सर्व प्रथम कषाय और इन्द्रि[illegible] का निग्रह करो, तीनो गारव छोडो, पश्चात् रागद्वेष रहित हो[illegible] हुये आलोचना करो, क्योकि रागद्वेष असत्य वचन का कारण है, जिससे आलोचना की शुद्धता बिगड जाती है, और रागभाव [illegible] कारण स्वस्थित दोष दृष्टिगत नही होते तथा पर के गुण ग्रह[illegible] नही कर सकते, अत. रागद्वेष का त्याग करने के बाद ह[illegible] आलोचना करना चाहिये।

मेरा रत्नत्रय निरतिचार है, इसलिये मै गुरु के सम[illegible] आलोचना क्यो करू ? ऐसा विचार करना उचित नहीं [illegible] क्योकि छत्तीस गुणो से विभूषित और प्रायश्चित ग्रन्थो के मर्म[illegible] महान् आचार्य भी अपने स्वय के रत्नत्रय मे लगे हुये अतीचा[illegible] का प्रायश्चित स्वय नही करते, पर की साक्षी पूर्वक ही [illegible] दोषो की शुद्धि करते है। हे मुने ! केवल आचार्य ही नही, [illegible] सर्व ही तीर्थंकर[1], सामान्य केवली तथा अनन्त ससार को [illegible] वाले एव सर्व परिग्रह से रहित आचार्य उपाध्याय और [illegible] परमेष्ठी भी अपनी छद्मस्थ अवस्था की शुद्धता गुरु के समीप करते है, क्योकि पर की साक्षी बिना अतीचारो की शुद्धता [illegible] प्रकार नही होती जिस प्रकार कुशल वैद्य भी स्वय बीमार [illegible] पर अन्य वैद्य के सहयोग के बिना स्वय की औषधि[illegible]

---

१ सव्वे वि तित्थयरा, तित्थयरा केवली अणंतजिणा।
छदुमत्थस्स विसोधि, दीसंति सदा गुरुसयासे ॥३३॥
भगवती आराधना पृष्ठ

निरोग नही होते। इसलिये हे साधो! दीक्षा ग्रहण के दिन से आज तक अपने रत्नत्रय मे जिस देश मे, जिस काल में, जिन भावों मे, जिस प्रकार के दोष लगे हो, उन्हे उसी प्रकार से सावधानी पूर्वक कह कर अपनी आलोचना की शुद्धि करो।

जैसे पैर आदि मे लगा हुआ कांटा मनुष्य को दुःख देने वाला है और कांटे का निकल जाना सुख का कारण है, वैसे ही व्रत संयम आदि मे लगे हुये दोषो को दूर नहीं करने वाला मायाचारी साधु दोषरूप शल्य के कारण दुःखी होता है, और जो गुरु के समीप आलोचना करके उन दोषो का वमन कर देता है वह सुखी होता है इसलिये हे मुने! आप मिथ्या, माया और निदान इन तीन शल्यो का त्याग करते हुए आलोचना करो।

जो शरीर मे प्रवेश किये हुये कांटे के सदृश निरन्तर शरीर व मन के सन्ताप में कारण हो, उसे शल्य कहते हैं। वह शल्य माया, मिथ्या और निदान के भेद से तीन प्रकार की होती है। दूसरो की वञ्चना करने का नाम माया, विपरीताभिनिवेश का नाम मिथ्या और ससार के भोगों की इच्छा का नाम निदान शल्य है। ये तीनो शल्य ससार निमित्तक है। वैसे निःशल्य ही व्रती होता है, और आप व्रती (साधु) है फिर भी पूर्वसस्कार वश इन शल्यो का पुनर्जन्म हो सकता है, अतः चित्त की विशेष सावधानी पूर्वक ही आलोचना करना चाहिये।

जो रागद्वेष से पीडित मूढ मुनि शल्य सहित मरण करते है, वे दुःख रूपी शल्यो से भरे हुये इस संसार मे ही परिभ्रमण

करते है तथा जो दीक्षा ग्रहण के समय से ही इन तीनों प्रकार के शल्यो को काटकर मरण करते हैं, वे अन्त मे आराधनाओं को प्राप्त होते हैं ।

हे धीर ! आलोचना के पूर्व तीन शल्यो के सदृश तीन गारव भी त्याज्य हैं, क्योकि गारव युक्त चित्त से की हुई आलोचना भी ससार के दु.खो का छेद नही कर सकती । गारव तीन प्रकार के होते है—शब्द गारव, ऋद्धि गारव और सात गारव या ऋद्धि गारव, रस गारव और सात (सुख) गारव।

शब्द गारव—मेरा शब्द उच्चारण मधुर एव स्पष्ट है ये अन्य सभी साधुगण इस प्रकार स्पष्ट और मधुर शब्द उच्चारण करना नही जानते । अथवा शब्द उच्चारण का गर्व होना शब्द गारव है ।

ऋद्धि गारव—शिष्य आदि सामग्री मेरे पास बहुत है अन्य मुनियो के पास नही है. अथवा शिष्य, पुस्तक, कमण्डलु, पिच्छिका एव फलक आदिको मे अपने आपको बडा (अधिक) मानना अथवा अपने परिवार वर्ग की प्रतिष्ठा आदि देखकर प्रसन्नता होना ऋद्धि गारव है । सात गारव—मैं मुनि होकर भी इन्द्र और चक्रवर्ती आदि के सदृश सुख भोगता हूँ, इन बेचारे अन्य साधुओ और तपस्वियो को ऐसे सुख कहाँ ? अथवा भोजन पान आदि मे उत्पन्न सुख मे तल्लीनता होना । अथवा—उत्तम भोगोपभोग की सामग्री द्वारा जैसा सुख मैं भोग रहा हूँ, वैसा इन्द्रो को भी दुर्लभ है, ऐसी भावना करना । अथवा तीर्थ

। ऐसा कहना कि आप लोगों को इस प्रकार की सुख सामग्री प्राप्त होना शक्य नहीं है, आदि सात गारव है। रस गारव—मोदक, पेटक आदि अनेक प्रकार की मिष्ट एवं पुष्टि कारक भोजन सामग्री प्राप्त हो जाने पर गर्व करना रस गारव है।

ये तीनों गारव दुःख के मूल हैं, अतः हे श्रमण! तीन गारव, तीन शल्य और परिग्रह की मूर्च्छा रहित होते हुए आलोचना करना चाहिये।

यदि आप निःशल्य मरण द्वारा समीचीन सुख को प्राप्त करना चाहते हो तो निरवशेष दोषों की विस्मरण, उद्वेग और मूढ़ता रहित तथा शीघ्रता सहित सत्यार्थ आलोचना करो।

जिस प्रकार छोटा बालक सरल अन्तःकरण से कार्य अकार्य अथवा योग्य अयोग्य सभी कुछ पिता से कह देता है, उसी प्रकार भय, मान, मन की कपटता और असत्यता का परित्याग करके योग्य अयोग्य सभी दोषों की आलोचना गुरु के समक्ष कर लेना चाहिए।

भो मुने! सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्र सम्बन्धी शुद्ध आलोचना करके, माया शल्य से रहित होकर भावों की शुद्धि के लिये पहिले गुरु द्वारा दिया हुआ प्रायश्चित्त सहर्ष स्वीकार करो, पश्चात् सूत्रोक्त क्रम से सल्लेखना करो।

इस प्रकार परमोपकारी गुरु के द्वारा जिसने (उपर्युक्त) शिक्षा प्राप्त की है, समाधिमरण करने का जिसका निश्चय है, हर्षातिरेक के कारण जिसका सर्वांग रोमाञ्चित हो रहा है, तथा

जो एकत्व भावना का चिन्तन कर रहा है, अपने समस्त दोषो का स्मरण कर रहा है, सरल भाव को प्राप्त हुआ है, लेश्या मे उज्ज्वल परिणाम वाला है, विशुद्ध भावो का धारक है और पुन पुन. अपने दोषो का स्मरण कर रहा है ऐसा क्षपक, दोष रूपी शल्य को निकालने के लिये पूर्वाह्ण अथवा अपराह्ण काल मे, सौम्य तिथि, शुभ नक्षत्र, शुभ वार और शुभ लग्न आदि मे प्रशस्त और एकान्त स्थान मे जाकर पिच्छिका सहित हस्ताञ्जलि मस्तक पर रखकर कृतिकर्म पूर्वक गुरु की वन्दना करने के बाद आलोचना के निम्नलिखित दश दोषो का परित्याग करते हुये आलोचना करे।

आलोचना के दश दोषः—

आकंपिय अणुमाणिय, जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च ।
छण्णं सद्दाउलयं, बहुजण अव्वत्त तस्सेवी ॥६८॥

भग० आ० पृ० २५७

आकम्पित, अनुमानित, दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन अव्यक्त और तत्सेवी ये आलोचना के दश दोष है।

१ आकम्पित दोषः—

गुरु के सम्मुख दोष प्रगट करने के पूर्व ऐसा भय उत्पन्न होना कि कहीं आचार्य अधिक दण्ड न देवे, अथवा अपनी दयनीय मुद्रा बना कर दोषो को कहना जिससे गुरु के हृदय मे अपने प्रति दया का भाव उत्पन्न हो जावे, जिससे वे कठोर दण्ड न देवे अथवा गुरु के आहार-पान की सुन्दर व्यवस्था बनवा कर ।

उपकरण आदि देकर या अतिविनम्रता पूर्वक कृतिकर्म अर्थात् वन्दना आदि के द्वारा अपने प्रति आचार्य के मन में अनुकम्पा उत्पन्न करा कर आलोचना करना। अथवा मन में ऐसा चिन्तन करना कि यदि गुरु हमारे ऊपर अनुग्रह करेंगे तो मैं सम्पूर्ण आलोचना करूँगा अन्यथा नहीं इन सबको आकम्पित दोष कहते हैं।

आकम्पित दोष से हानि :—

जैसे कोई जीवित रहने की इच्छा से विष का पानक बना कर ग्रहण करे तो वह अज्ञानी तत्काल मरण को प्राप्त होगा। इसी प्रकार मायाचार आदि दोषों को दूर करने के लिये जो कपट पूर्वक आलोचना करेगा वह अधिकाधिक दोषों से लिप्त ही होगा शुद्ध नहीं। अथवा जैसे रूप, रस, गन्ध और वर्ण आदि में अति-मनोज्ञ किंपाकफल परिपाक कालमें मृत्यु का ही कारण है, वैसे ही बाह्य में गुरु आदि को प्रशस्त दिखलाई देने वाली मायाचार युक्त आलोचना महान् कर्मबन्ध द्वारा संसार परिभ्रमण का ही कारण है। अथवा जैसे क्रिमि रंग से युक्त कम्बल या लाख रंग से युक्त रेशम आदि का वस्त्र जलादि से बहुत बार धोए जाने पर भी उज्ज्वल (श्वेत) नहीं होता, उसी प्रकार आकम्पित दोष से की हुई आलोचना शल्य को दूर कर रत्नत्रय को शुद्ध नहीं करता।

अनुमानित दोष :—

दूसरों के द्वारा अनुमानित दोषों का निवेदन करना [illegible] का नहीं, अथवा गुरु इस समय प्रसन्न मुद्रा में है या रोग से [illegible]

अनुमान लगाकर प्रसन्न मुद्रा के समय आलोचना करना। अथवा-
गुरु को इस प्रकार की विनय द्वारा अपनी असमर्थता का अनुमान
कराना कि हे भगवन्! इस समय धैर्यवान् पुरुषों के द्वारा
आचरण किया हुआ उत्कृष्ट तप जो करते हैं, वे अति धर्मात्मा हैं,
जगत मे धन्य है और महिमावान् है, और मैं तो हीन बल वाला हूँ
अत अनशन तप करने मे असमर्थ हूँ। मेरा सुखिया स्वभाव, क्षीण
बल, शरीर की दुर्बलता और रोगीपना यह सब आप जानते है,
इसी कारण मैं उत्कृष्ट तप करने मे समर्थ नहीं हूँ, अत. हे भगवन्!
आप मेरे ऊपर अनुग्रह करेगे तो मैं सर्व आलोचना करूँगा।
आपकी कृपा रूपी लक्ष्मी से जैसे मेरा निस्तार होगा, उसी प्रकार
से मैं अपनी शुद्धता करना चाहता हूँ। इस प्रकार अपनी शक्ति
आदि का अनुमान करा कर आलोचना करना अनुमानित दोष है।

हानि —जैसे स्वस्थ्यता का अभिलाषी कोई रोगी मनुष्य
परिपाक मे अति कटुक फल देने वाले अपथ्य आहार को गुणकारी
मान कर खाता है, उसी प्रकार आत्म शुद्धता का
अभिलाषी मायाचारी साधु अनुमानित दोष युक्त आलोचना से
अपने रत्नत्रय आदि की शुद्धि चाहता है, किन्तु वह कर्मों से बंधता
ही है, छूटता नहीं।

३. दृष्ट दोष :—

जो दोष दूसरों की दृष्टि मे आ चुके है, उनकी आलोचना
करना, तथा जो किसी ने नहीं देखे उन्हें न कहना, गोप्य हैं
रखना, दृष्ट नाम का दोष है।

हानिः—जैसे-जो वालू रेत के टीवे मे गड्ढा खोदता है, वह जैसे जैसे गड्ढे से वालू निकालता जाता है, वैसे वैसे चारो ओर की वालू से गड्ढा भरता जाता है। उसी प्रकार अन्य के द्वारा दृष्ट दोषो की आलोचना करता हुआ भी मायाचारी साधु माया शल्य के कारण कर्मो से लिप्त होता जाता है।

८. बादर दोष :-

स्थूल दोषो की आलोचना करना, तथा सूक्ष्म दोषो की नही करना। साथ मे यह भावना रखना कि जब स्थूल दोष नही छिपाता तब सूक्ष्म दोष क्या छिपायगा। गुरु ऐसा समझते हुये मेरी मायाचारी न जान सकेंगे। अथवा व्रतों को नष्ट करने वाले स्थूल दोषो की आलोचना करना और सूक्ष्म दोषो को छिपाना यह बादर नाम का दोष है।

हानि —जैसे कांसे की झारी अभ्यन्तर मे मलिन और बाह्य उज्ज्वल होती है, वैसे ही जिनेन्द्र आज्ञा से पराङ्मुख होता हुआ जो मायावी साधु सूक्ष्म दोष छिपाने से अभ्यन्तर मे मलिन और स्थूल दोषो की आलोचना द्वारा आचार्य को अपने व्रतो की उज्ज्वलता दिखाता है, वह शल्य सहित आलोचना करने के कारण सम्यक्—प्रकार अपनी समाधि का निस्तरण नही कर सकता।

९. सूक्ष्म दोष :—

सूक्ष्म दोषो की आलोचना करना तथा स्थूल दोष छिपाना। साथ ही यह भावना रखना कि गुरु सोचेंगे कि जब इसने

सूक्ष्म दोष नही छिपाता तव स्थूल दोष क्या छिपायगा। अथवा मार्ग मे अधिक विहार करने से चित्त मे उत्पन्न हो जाने वाली व्याकुलता के कारण ईर्यापथ शोधन मे असावधानी हुई हो, स्थान आसन, शयन मे, करवट आदि बदलने मे तथा वस्तु के रखने उठाने मे मयूर पिच्छिका से मार्जन करने मे सावधानी नही रखी हो, जल से आर्द्र शरीर आदि का स्पर्श कर लिया हो, सचित पृथ्वी पर शयन, आसन आदि क्रिया हो तथा बाल एवं गर्भिणी स्त्री आहार लिया हो, इत्यादि प्रमाद से उत्पन्न होने वाले स्वल्प दोषों की आलोचना करे और यह सोचे कि इसमे 'हमारी महिमा होगी कि देखो कितने छोटे छोटे दोषों की भी आलोचना करता है' साथ ही सम्यक्त्व और व्रतो मे लगे हुये महान् दोषों को आचार्य प्रायश्चित्त के भय से या अभिमान मे तथा अपना महत्त्व घट जाने के भय मे मायाचारी पूर्वक आलोचना करना सूक्ष्म नाम दोष है।

हानि :—जैसे-लोह अथवा तांबे के कारण एवं कड़े पर स्वर्ण का पत्र लगाकर अथवा स्वर्ण पत्र के भीतर लाख कर बनाया हुआ जेवर आदि उत्तम मूल्य को प्राप्त नही होता उसी प्रकार स्थूल दोषों को छिपा कर सूक्ष्म दोषों की आलोचना करने वाले का परमार्थ नियम मे बिगड़ना है।

६. छन्न दोष :—

आचार्य के आगे अपराध को स्वय प्रगट नही कर अथवा-किसी अन्य साधु के द्वारा व्रतादिक मे लगे हुये दो

देखकर अपने दोषो की शुद्धि के लिये गुरु से इस प्रकार पूछना कि हे स्वामिन् ! यदि किसी साधु के मूल गुणो मे तथा उत्तर गुणो मे दोष लग जाय तो उसकी शुद्धता कैसे होय ? अहिंसा एव सत्य आदि महाव्रतो मे अतीचार लग जाने पर उसकी शुद्धता कैसे होगी ? तथा उसको आप कौनसा प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करेगे ? इस प्रकार और भी अनेक दोषो का प्रायश्चित्त पूछते पूछते बीच बीच मे अपने भी दोष पूछ लेना और प्रायश्चित्त ले लेना प्रच्छन्न नाम का दोष है ।

दृष्टान्त एव हानि —जो अन्य पुरुष के भोजन करने से कोई अन्य पुरुष की क्षुधा शान्ति होती हो, अथवा तप, सयम तो अन्य कोई करे और उसके फलस्वरूप शुभ गति किसी अन्य को हो जाय तो पर के व्यपदेश से की हुई आलोचना भी अन्य को शुद्ध कर देगी, किन्तु ऐसा कभी होता नही, अत जो किसी दूसरे के बहाने अपने दोषो की शुद्धता चाहते है, अर्थात् गुरु के समक्ष अपने दोष स्पष्ट रूप से न कहते हुये भी अपनी शुद्धि करना चाहते है, वे मानो मृगतृष्णा मे जल, और चन्द्रमा के परिवेष से भोजन प्राप्ति की इच्छा करते हैं । जिस प्रकार कभी मृगतृष्णा से जल और चन्द्र परिवेष से भोजन की प्राप्ति नही हो सकती । उसी प्रकार मायाचारी पूर्वक की हुई आलोचना से समाधि मरण नही हो सकता ।

६. शब्दाकुलित दोष :—

सघ आदि के द्वारा किये हुए कोलाहल के समय दोष

प्रगट करना। अथवा पाक्षिक, चातुर्मासिक एवं वार्षिक आदि प्रतिक्रमण का पाठ जिस समय हो रहा हो, उसी कोलाहल में अपने दोषों को इस प्रकार कहना कि जिससे गुरु यथेच्छ रूप से श्रवण न कर सकें। इसे शब्दाकुलित दोष कहते हैं।

दृष्टान्त एवं हानि.—जैसे अरहट के घडे एक तरफ भरते है और दूसरी ओर खाली होते जाते हैं, तथा दही की मथानी में लगी हुई रई की डोरी एक ओर खुलती जाती है और दूसरी ओर बंधती जाती है, तथा फूटा घडा एक तरफ जल से भरते जाओ, दूसरी ओर से जल निकलता जाता है। वैसे ही एक ओर आलोचना करते हैं, और दूसरी ओर मायाचारी के द्वारा कर्म बन्ध करते जाते है, तब संसार परिभ्रमण का अन्त कैसे होगा? नहीं ही होगा।

८. बहुजन दोष :—

पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण के बाद संघ के समस्त साधु जब अपने अपने दोष प्रगट कर रहे हो, उसी कोलाहल मे बहुजन के साथ अपने दोष प्रगट करना अथवा-किसी मुनि ने आचार्य के समीप मन वचन काय से समस्त आलोचना की, तदनन्तर रत्नत्रय के धारी, श्रुत के पारगामी और प्रायश्चित आदि देने मे अति प्रवीण आचार्य ने आगमानुकूल यथायोग्य प्रायश्चित दिया, किन्तु गुरु पर श्रद्धान न करके अनेकों गुरुओं से पूछना कि इस अपराध का क्या प्रायश्चित है? यह आलोचना का बहुजन नाम का आठवां दोष है।

हानि :—जैसे शरीर में चुभा हुआ सरल बाण भी अति वेदना देने से सन्तापकारी है, उसी प्रकार बहुत जनों से अपने दोषों का पूछना भी परिणामों को दूषित करता है, अत कर्मबन्ध का ही कारण है।

९. अव्यक्त दोषः—

अव्यक्त रूप से अपराध प्रगट कर प्रायश्चित्त लेना, अथवा आगम ज्ञान से रहित, चारित्र से बाल और अज्ञानी गुरु के समक्ष अपने व्रतों में लगे हुये समस्त दोष कहकर ऐसा मानना कि "मैंने अपने सर्व दोषों की आलोचना कर ली है"। यह अव्यक्त नाम का दोष है।

हानि :—जिस प्रकार कपट का स्वर्ण या धन और दुर्जन की मित्रता परिपाक काल में नियम से दुःखदाई होती है, इसी प्रकार अव्यक्त दोष से युक्त आलोचना भी कर्म बन्ध का ही कारण है, समाधि का नहीं।

१०. तत्सेवी दोषः—

जिन अपराधों की आलोचना करके प्रायश्चित्त लिया है, उसी अपराध को पुन पुन. करना अथवा—अपने सदृश अपराध करने वाले पार्श्वस्थ आदि भ्रष्ट मुनियों के समक्ष सर्व दोषों की आलोचना करते समय मन में यह अभिप्राय रखना कि जब आचार्य स्वयं ये दोष करते है तब दूसरों को क्या प्रायश्चित्त देंगे। अथवा यह विचार करना कि ये स्वयं दोषी हैं, तथा मेरे शरीर की सुकुमारता को और मेरे सर्व अपराधों को जानते हैं, अतः

महान् प्रायश्चित न देकर अल्प प्रायश्चित देंगे । यह आलोचना का तत्सेवी नाम का दशवां दोष है ।

हानि:—जैसे कोई अज्ञानी रुधिर से लिप्त वस्त्र की शुद्धता रुधिर से ही करना चाहता है, सो त्रिकाल मे भी नही हो सकती, शुद्धता जब होगी, निर्मल जल से ही होगी। इसी प्रकार कोई साधु अपने शल्योद्धरण की शुद्धता सदोषी गुरु से चाहता है, सो कदापि नही होगी । प्रत्युत मायाचारी के दोष से, तथा सूत्र की आज्ञा उल्लङ्घन करने मे महादोषो से लिप्त ही होगा । इसलिये वीतरागी गुरु की शिक्षा को ग्रहण करके निर्दोष आचार्य के समीप सरल चित्त से अपने दोषो की आलोचना करना चाहिये, क्योकि जिस प्रकार प्रवचन छिपाने वालो को, भगवान् जिनेन्द्र की आज्ञा उल्लङ्घन करने वालो को और दुष्कर पाप करने वालो को निर्वाण दूर है, उसी प्रकार सदोष मुनि के समीप आलोचना करने वालो को शल्योद्धरण शुद्धि भी अति दूर है ।

आलोचना के ये दशो दोष आत्मा को मलिन करने वाले हैं, अतः मुमुक्षुओं को इनका सतर्कता पूर्वक त्याग करना चाहिए। जिन्हे प्रायश्चित का भय होता है, या दोष कहने मे लज्जा होती है, या मायाचारी से जिनका हृदय मलिन है, तथा जो असत्यवादी हैं, और अभिमानी है, उनके भावशुद्धता और द्रव्य शुद्धता दोनों नहीं होती तथा भाव शुद्धता के अभाव मे धर्मानुराग और रत्नत्रय मे उज्ज्वलता कहां हो सकती है ? इसलिये भय, माया, असत्यता, अभिमान और लज्जा आदि दोषों का त्याग करते हुए विधि पूर्वक आलोचना करना चाहिए ।

आलोचना :—

गुरु की हितकारी शिक्षा को ग्रहण करता हुआ क्षपक मन, वचन और काय की सरलता पूर्वक, तथा वचन सम्बन्धी दोषो को छोडता हुआ अति-विनय पूर्वक एव स्पष्ट भाषा द्वारा पॉच स्थावर काय एव त्रस काय के जीवो की विराधना सम्बन्धी दोषो को, आहार सम्बन्धी दोषो को अयोग्य उपकरण आदि ग्रहण सम्बन्धी, सदोष वसतिका सम्बन्धी, गृहस्थ सम्बन्धी आसन फलक, सिहासन आदि का स्पर्श एवं उपयोग कर लेने से उत्पन्न होने वाले दोषो को सविस्तार और निर्भयता पूर्वक कहे तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, पॉचमहाव्रत आदि अट्ठाईस मूलगुणो, उत्तर गुणो मे लगे हुये अतीचारो की आलोचना कर अपने हृदय को निर्मल बनाले।

गुरु का कर्तव्य :—

स्थिर चित्त से क्षपक की आलोचना सुनकर, चतुर वैद्य एव राजा आदि के सदृश उन दोषो के प्रति तीन बार पूछ करके आलोचना की सरलता एव वक्रता का निर्णय करे। यदि आलोचना यथावत् और सम्यक् समझे तो आगमानुसार प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करे, और यदि आलोचना सम्यक् न हो तो आचार्य प्रायश्चित देकर शुद्ध न करे, और न उसे समाधि के लिये ग्रहण करे।

वसतिका:—

प्रायश्चित देकर जिसे शुद्ध किया है, उस क्षपक के लि

प्रशस्त स्थान मे छयालीस दोषों से रहित निर्दोष और प्रशस्त वसतिका का अन्वेषण करे, यदि प्रशस्त वसतिका की प्राप्ति न हो तो "पव्वयस्सुन्द्धाकारो धम्मसवणमंडवादी य" ॥ ४२ ॥ (भग० आ० पृष्ठ २७४) अर्थात् क्षपक की स्थिति के लिये तृणादिक के धर्मश्रवणमण्डप आदि बनवाना योग्य है।

शय्याः—

शुद्ध पृथ्वी, पाषाण की शिला, काष्ठ का फलक (काष्ठ शय्या भूमि से लगी हुई हो, भूमि से ऊँची न हो, बखना रहित हो, निष्कम्प हो, शरीर प्रमाण हो, छिद्र रहित, जोड रहित और कोमल हो) तथा तृण मय संस्तर समाधिमरण के योग्य है। संस्तर का मस्तक पूर्व या उत्तर दिशा में होना चाहिये। अर्थात् क्षपक का मुख पश्चिम या दक्षिण की ओर होना चाहिये।

शय्या आरोहण:—

शास्त्रोक्तविधि से संस्तर का निर्माण हो जाने के बाद तथा कुण्डाह्वानन, बृहद्शान्ति धारा एवं दशों दिशाओं की शुद्धि आदिक प्रारम्भिक आवश्यक क्रियाएँ हो जाने के पश्चात् क्षपक मंगलभूत पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार करके तथा उस क्षेत्र के स्वामी से पूछ्या करके महामन्त्र का उच्चारण करते हुये मनवचन-काय की शुद्धता पूर्वक शय्या ग्रहण करे।

वैयावृत्य:—

शय्या ग्रहण के बाद निर्यापकाचार्य की आज्ञानुसार वात्सल्यगुण के धारी और वैयावृत्य करने में निपुण और मे

अधिक ४८ और कम से कम दो मुनिराजों को क्षपक की वैयावृत्य में सावधान रहना चाहिये।

तीन प्रकार के आहार का त्याग:—

अनेक प्रकार के कठिन तप करते हुये जब क्षपक की आयु अल्प रह जाय तब क्षपक गुरु से तीन प्रकार के आहार त्याग के लिये विनय करे, उस समय आचार्य को अशन, खाद्य एव स्वाद्य इन तीन प्रकार के आहार क्षपक को दिखाना चाहिये। यदि ऐसा न किया जायगा तो समाधि बिगडने का भय[1] रहता है। यदि आहार में क्षपक की विशेष अभिलाषा दिखाई देती है तो आचार्य अपने सदुपदेश के द्वारा सम्बोधन करते है, और क्षपक जलपानादि के सिवा अन्य तीन प्रकार के आहार का सहर्ष त्याग करता है।

क्षमा याचना:—

तीन प्रकार के आहार त्याग के बाद क्षपक सर्व संघ से क्षमा याचना करता है, तथा स्वय भी सर्व संघ के प्रति क्षमा धारण करता है।

अन्य कर्तव्य:—

कफ नाश, पित्त के उपशमन और वायु की रक्षा के लिये आचार्य को प्रयत्न करना चाहिए। उदरमल का निराकरण क

---

1. दव्वपयाससमकित्ता जह कीरइ तस्स तिविहवोसरणं।
कम्हि वि भत्तविसेसम्मि उस्सुगो होज्ज सो खवग्रो ॥६३
भग० आ० पृ० ?

लिये मधुर आदि पेय पिलाना चाहिये, तथा अनुवासन आदि या द्वारा उदर शोधन अर्थात् मलविरेचन करना चाहिए।

जिह्वा वल, वचन शक्ति और श्रवण शक्ति की सुरक्षा, की निर्मलता तथा धर्मश्रवण की शक्ति की सुरक्षा के निमित्त के एवं कषायले द्रव्य के खूब कुल्ले[1] कराना चाहिए। कानों एव नाशापुटों मे तेल डालना चाहिए और आवश्यकतानुसार एवं हाथ पैरों को जल से प्रक्षालन करना चाहिए।

पक को निर्यापकाचार्य का सदुपदेश:—

सर्व प्रथम आचार्य क्षपक के मिथ्यात्व का वमन कराने शिक्षा देते हैं।

शंका.—जब मिथ्यात्व का त्याग करने के पश्चात् ही निग्रन्थ धारण किया जाता है, तब यहाँ समाधि काल में मिथ्यात्व त्याग के उपदेश की क्या सार्थकता होगी?

समाधानः—

आपका कथन सत्य है। मोक्षमार्ग मे पग रखने के इच्छुक सर्व प्रथम मिथ्यात्व का ही त्याग करते हैं, किन्तु "अविद्याभ्यास संस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः" अर्थात् अनादिकाल से अविद्या-मिथ्यात्व आदि के अभ्यास के संस्कारों द्वारा मन अवश होता हुआ विक्षिप्त होता रहता है। जैसे निरन्तर से दिन में निरन्तर

---

[1] [illegible] मूलाराधना ॥६९॥ अ० आ० पृ० २८८

करने वाला सर्प निवारण करने पर भी विल मे ही प्रवेश करता है, रोकने पर भी नही रुकता, उसी प्रकार ससारी जीवों के हृदय रूपी विल मे अनादि काल से निवास करने वाला मिथ्यात्व रूपी सर्प वारम्बार रोकने पर भी नही रुकता, प्रवेश कर ही जाता है। अतः अव्रती हो या व्रती श्रावक हो या मुनीश्वर हो अथवा क्षायिक हो सभी को मिथ्यात्व के अभाव की और सम्यक्त्व दृढ़ता की भावना निरन्तर करना चाहिये।

भो आत्मन्! तीनो लोको मे और तीनों कालों में मिथ्यात्व रूपी महाशत्रु के द्वारा जो दुःख दिया जाता है, वह दुःख अग्नि, विष एव कृष्ण सर्प आदि किसी के द्वारा भी नहीं दिया जाता, क्योंकि अग्नि आदि पदार्थों से एक ही भव में दुःख होता है अर्थात् मारते है, किन्तु मिथ्यात्व शत्रु तो असंख्यात एवं अनन्त भवो मे वारम्बार मारता है।

भो साधो! यह जीव मिथ्यात्व के प्रभाव से अनन्त बार अग्नि मे जल कर, जल मे डूब कर, पर्वतो से गिरकर, वज्र आदि मे पड़ कर और शस्त्र घात से मरा है। अनन्त बार सिंह आदि दुष्ट पशुओ के द्वारा खाया गया, दुष्ट मनुष्यो के द्वारा मारा गया और बन्दीगृह आदि मे सड़ा, रोगो की तीव्र वेदना से मरा, श्वास रुक जाना शीत की वेदना से मरा। अनन्त बार शरीर के मर्मस्थान फट जाने से मरा, दारिद्रता की पीडा से मरा इत्यादि कहाँ तक कहा जाय। पर हे मुने! सम्पूर्ण दुःखों का मूल मिथ्यात्व है, अतः इसका प्रयत्न पूर्वक त्याग करो।

प्रार्थना की। मुनिराजो ने राजा की विनय स्वीकार कर धर्मोपदेश दिया, जिससे प्रभावित होकर मन्त्री ने श्रावक के व्रत ग्रहण कर लिये और बौद्ध गुरुओ के पास जाना छोड दिया। किसी एक दिन बौद्ध गुरु ने मन्त्री को बुलाया। मन्त्री गया, किन्तु बिना नमस्कार किये ही बैठ गया। भिक्षु ने इसका कारण पूछा, तब सधश्री ने श्रावक के व्रत आदि लेने की सम्पूर्ण घटना सुना दी। बौद्धगुरु जैनधर्म के प्रति ईर्षा से जल उठा और बोला—मन्त्री ! तुम ठगाये गये, भला आप स्वय विचार करो कि मनुष्य आकाश मे कैसे चल सकता है ? ज्ञात होता है राजा ने कोई षडयन्त्र रचकर तुम्हे जैनधर्म स्वीकार कराया है। भिक्षुक की बात सुनकर अस्थिर बुद्धि पापात्मा मन्त्री ने जैनधर्म छोड़ दिया। एक दिन राजा ने अपने दरबार मे जैनधर्म की महानता और चारणऋद्धिधारी मुनिराजो के चमत्कार सुनाये, और उस घटना को सुनाने का अनुरोध मन्त्री से भी किया। मन्त्री बोला—"महाराज ! असम्भव है, न मैने अपनी आंखो से देखा है, और न इस प्रकार की बात सम्भव है"। मन्त्री की असत्य बात सुनकर राजा को बहुत विस्मय हुआ किन्तु उसी क्षण मन्त्री के दोनो नेत्र फूट गये, और वह दुर्गति का पात्र बना। "जैसी करनी वैसी भरनी" के अनुसार ही उसने फल प्राप्त किया।

हे क्षपकराज ! जिस प्रकार सम्यक्त्व का त्याग कर मिथ्यात्व भाव धारण करने से मन्त्री दुर्गति का पात्र बना, उसी प्रकार यदि तुम भी मिथ्यात्व को धारण करोगे तो दुर्गति के पात्र

प्रार्थना की। मुनिराजो ने राजा की विनय स्वीकार कर धर्मोपदेश दिया, जिससे प्रभावित होकर मन्त्री ने श्रावक के व्रत ग्रहण कर लिये और बौद्ध गुरुओ के पास जाना छोड दिया। किसी एक दिन बौद्ध गुरु ने मन्त्री को बुलाया। मन्त्री गया, किन्तु विना नमस्कार किये ही बैठ गया। भिक्षु ने इसका कारण पूछा, तब सघश्री ने श्रावक के व्रत आदि लेने की सम्पूर्ण घटना सुना दी। बौद्धगुरु जैनधर्म के प्रति ईर्षा से जल उठा और बोला—मन्त्री ! तुम ठगाये गये, भला आप स्वय विचार करो कि मनुष्य आकाश मे कैसे च सकता है ? ज्ञात होता है राजा ने कोई षडयन्त्र रचकर तु जैनधर्म स्वीकार कराया है। भिक्षुक की बात सुनकर अस्थि बुद्धि पापात्मा मन्त्री ने जैनधर्म छोड़ दिया। एक दिन राजा अपने दरबार मे जैनधर्म की महानता और चारणऋद्धिधारी मुनिराजो के चमत्कार सुनाये, और उस घटना को सुनाने क अनुरोध मन्त्री से भी किया। मन्त्री बोला—"महाराज ! असम्भ है, न मैंने अपनी आंखो से देखा है, और न इस प्रकार की बा सम्भव है"। मन्त्री की असत्य बात सुनकर राजा को बहुत विस्म हुआ किन्तु उसी क्षण मन्त्री के दोनो नेत्र फूट गये, और व दुर्गति का पात्र बना। "जैसी करनी वैसी भरनी" के अनुसार ह उसने फल प्राप्त किया।

हे क्षपकराज ! जिस प्रकार सम्यक्त्व का त्याग क मिथ्यात्व भाव धारण करने से सघश्री दुर्गति का पात्र बना, उ प्रकार यदि तुम भी मिथ्यात्व को धारण करोगे तो दुर्गति के पा

बनोगे। अतः अपने परिणामों की सम्हाल में निरन्तर प्रयत्नशील रहो।

अब आचार्य सम्यक्त्व के उपकारों का दिग्दर्शन कराते हैं :—

हे क्षपक ! तीनों लोकों और तीनों कालों में ऐसा कोई भी सुख नहीं है जो सम्यक्त्वरूपी महाबन्धु के द्वारा न दिया जाता हो।

भो भव्यात्मन् ! सम्यग्दर्शन संसार के समस्त दुःखों का नाश करने में समर्थ है, अतः उसके धारण और रक्षण में प्रमादी एवं आलसी मत बनो। निरन्तर ऐसा उद्यम करो जिससे सम्यक्त्व दृढ़ और उज्ज्वल बना रहे, क्योंकि ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य की आधार शिला सम्यग्दर्शन ही है। जैसे नगर में प्रवेश करने का कारण द्वार है, बिना द्वार के नगर में प्रवेश नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार ज्ञानादि आराधनाओं में प्रवेश करने का द्वार सम्यक्त्व है। जैसे मुख की शोभा नेत्रों से है, उसी प्रकार ज्ञानादि अनन्तगुणों की शोभा सम्यग्दर्शन से है। जैसे वृक्ष की स्थिति मूल (जड़) से है, वैसे ही आत्मीक गुणों की अवस्थिति सम्यग्दर्शन से है, ऐसा दृढ़ विश्वास करके समाधिमरण स्वीकार करने वाले आपको ज्ञानादि शेष आराधनाओं की शुद्धि के लिये मद आदि और पच्चीस दोषों का विनाश कर सम्यग्दर्शन विशुद्ध करना चाहिये।

भो भव्य ! सम्यग्दर्शन के सामने तीन लोक की सम्पदा का कोई मूल्य नहीं है। देखो ! राजा श्रेणिक ने सम्यक्त्व के

प्रार्थना की। मुनिराजो ने राजा की विनय स्वीकार कर धर्मोपदेश दिया, जिससे प्रभावित होकर मन्त्री ने श्रावक के व्रत ग्रहण कर लिये और बौद्ध गुरुओं के पास जाना छोड दिया। किसी एक दिन बौद्ध गुरु ने मन्त्री को बुलाया। मन्त्री गया, किन्तु बिना नमस्कार किये ही बैठ गया। भिक्षु ने इसका कारण पूछा, तब सचिव ने श्रावक के व्रत आदि लेने की सम्पूर्ण घटना सुना दी। बौद्धगुरु जैनधर्म के प्रति ईर्षा से जल उठा और बोला—मन्त्री ! तुम ठग गये, भला आप स्वय विचार करो कि मनुष्य आकाश मे कैसे च सकता है ? ज्ञात होता है राजा ने कोई षडयन्त्र रचकर तु जैनधर्म स्वीकार कराया है। भिक्षुक की बात सुनकर अस्थि बुद्धि पापात्मा मन्त्री ने जैनधर्म छोड़ दिया। एक दिन राजा अपने दरबार मे जैनधर्म की महानता और चारणऋद्धिधा मुनिराजो के चमत्कार सुनाये, और उस घटना को सुनाने क अनुरोध मन्त्री से भी किया। मन्त्री बोला—"महाराज ! असम्भ है, न मैने अपनी आँखो से देखा है, और न इस प्रकार की बा सम्भव है"। मन्त्री की असत्य बात सुनकर राजा को बहुत विस्म हुआ किन्तु उसी क्षण मन्त्री के दोनो नेत्र फूट गये, और व दुर्गति का पात्र बना। "जैसी करनी वैसी भरनी" के अनुसार ह उसने फल प्राप्त किया।

हे क्षपकराज ! जिस प्रकार सम्यक्त्व का त्याग मिथ्यात्व भाव धारण करने से सचिवश्री दुर्गति का पात्र बना, उ प्रकार यदि तुम भी मिथ्यात्व को धारण करोगे तो दुर्गति के पा

बनोगे। अतः अपने परिणामों की सम्हाल में निरन्तर प्रयत्नशील रहो।

अब आचार्य सम्यक्त्व के उपकारों का दिग्दर्शन कराते हैं :—

हे क्षपक! तीनों लोकों और तीनों कालों में ऐसा कोई भी सुख नहीं है जो सम्यक्त्वरूपी महाबन्धु के द्वारा न दिया जाता हो।

भो भव्यात्मन्! सम्यग्दर्शन संसार के समस्त दुःखों का नाश करने में समर्थ है, अतः उसके धारण और रक्षण में प्रमादी एवं आलसी मत बनो। निरन्तर ऐसा उद्यम करो जिससे सम्यक्त्व दृढ़ और उज्ज्वल बना रहे, क्योंकि ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य की आधार शिला सम्यग्दर्शन ही है। जैसे नगर में प्रवेश करने का कारण द्वार है, बिना द्वार के नगर में प्रवेश नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार ज्ञानादि आराधनाओं में प्रवेश करने का द्वार सम्यक्त्व है। जैसे मुख की शोभा नेत्रों से है, उसी प्रकार ज्ञानादि अनन्तगुणों की शोभा सम्यग्दर्शन से है। जैसे वृक्ष की स्थिति मूल (जड़) से है, वैसे ही आत्मीक गुणों की अवस्थिति सम्यग्दर्शन से है, ऐसा दृढ़ विश्वास करके, समाधिमरण स्वीकार करने वाले आपको ज्ञानादि शेष आराधनाओं की वृद्धि के लिये मल अर्थात् और पच्चीस दोषों का विनाश कर सम्यग्दर्शन विशुद्ध करना चाहिये।

भो भव्य! सम्यग्दर्शन के सामने तीन लोक की सम्पदा का कोई मूल्य नहीं है। देखो! राजा श्रेणिक ने सम्यक्त्व के

प्रभाव से ३३ सागर की नरकायु को काट कर मात्र ८४ हजार वर्ष प्रमाण बना ली थी, और उसी सम्यक्त्व के प्रभाव से वे भविष्यत काल के प्रथम तीर्थंकर होने वाले हैं, अत. आप अविनाशी सुख की प्राप्ति हेतु सम्यक्त्व रूपी अमूल्य रत्न की प्रयत्न पूर्वक रक्षा करो।

नोटः—यहाँ राजा श्रेणिक की कथा सुनाना चाहिये, यह कथा सर्व विदित है अत नही लिखी जा रही।

अब आचार्य श्री के द्वारा क्षपक को अर्हदादि भक्ति का माहात्म्य बताया जा रहा है .—

हे आत्मकल्याण के इच्छुक साधो ! इस समाधि के समय आपके हृदय मे जिनेन्द्र भगवान् के प्रति अन्त:करण से भावशुद्धि पूर्वक विशेष अनुराग होना चाहिये, क्योकि अकेली जिन भक्ति ही सम्पूर्ण कार्यों को सिद्ध करने मे समर्थ है, मुक्ति के लिये परम कारण है दुर्गति निवारण मे सक्षम है सिद्धि पर्यंत सुखों के कारणभूत पुण्य को परिपूर्ण करने वाली है और सम्पूर्ण रूप मे आपायों को दूर कर मनोरथों को पूरक है। अर्हद् भक्ति के सदृश पञ्च-परमेष्ठी, जिन चैत्य (बिम्ब), जिन चैत्यालय, जिन वचन और जिन धर्म मे भी अनुराग होना चाहिये, क्योंकि परमेष्ठी के गुणों मे अनुराग करने वाला ही आत्म गुणो मे अनुराग करेगा, और मोक्ष प्राप्त करेगा।

शंका —अनुराग तो बंध का कारण है, फिर पञ्चपरमेष्ठी का अनुराग मोक्ष का कारण कैसे कहा ?

समाधान.—वीतरागी अर्हन्तादि के प्रति होने वाला अनुराग, विषय, कषाय, शरीर, एवं धनधान्यादि के अनुराग से अत्यन्त भिन्न है। अर्थात् यह अनुराग समस्त परवस्तुओं से रागभाव का अभाव करा कर वीतराग रूप निज भाव मे स्थिति करा देने वाला है, अतः जब तक ध्यान, ध्याता और ध्येय की एकता नहीं होती तब तक परमात्मा आदि मे अनुराग करना चाहिये।

(भग० आ० पृ० ३०३)

जो पुरुष चारों आराधनाओं के अधिनायक पंच परमेष्ठियों मे भक्ति नहीं करता, वह उत्कृष्ट संयम धारण करते हुये भी मानों ऊपर भूमि मे शालिधान्य बोता है, क्योंकि जैसे ऊपर भूमि में डाला गया बीज नष्ट हो जाता है, वैसे ही भक्ति बिना संयमादि गुण नष्ट हो जाते हैं।

जो पुरुष आराधनाओं के धारक पंच परमेष्ठियों मे भक्ति किये बिना ही अपनी आराधना की सिद्धि चाहता है, वह मानो बीज बिना धान्य को और मेघ बिना वर्षा की इच्छा करता है।

जैसे वर्षा बिना धान्य नहीं होता, वैसे ही पंचपरमेष्ठी की भक्ति बिना चारों आराधनाओं की उत्पत्ति नहीं होती। देखो! पद्मरथ राजा भक्ति के कारण ही देवों द्वारा पूज्य होता हुआ गणधर हुआ।

राजा पद्मरथ की कथा :—

मगधदेश के अन्तर्गत मिथिला नगरी में परोपकारी दयालु और नीतिज्ञ राजा पद्मरथ राज्य करते थे। वे एक दिन

शिकार खेलने गये । वहाँ उनका घोडा दौडता हुआ काल गुफा के समीप जा पहुँचा । गुफा मे सुवर्म मुनिराज विराजमान थे । मुनिराज के शुभदर्शनो से महाराज पद्म अति प्रसन्न हुए, और घोडे से उतर कर भक्ति पूर्वक उन्हे नमस्कार किया । महाराजा श्री ने राजा को धर्मोपदेश दिया, जिससे वे अति प्रफुल्लित हुए, और विनीत शब्दो मे बोले—गुरुराज ! आप के सदृश और कोई मुनिराज इस पृथ्वी पर है या नही ? यदि है, तो कहाँ पर है ? मुनिराज बोले—राजन् ! इस समय इस देश मे साक्षात् १२ वे तीर्थंकर वासुपूज्य स्वामी विद्यमान है, उनके अनन्त ज्ञान के सामने मैं तो अति नगण्य हूँ । मुनिराज के वचन सुनकर राजा के मन मे भगवान् के दर्शन को प्रबल इच्छा जाग्रत हो गई, और वह अपने परिजन पुरजनो के साथ चल पडा । उसी समय धन्वन्तरि चर देव अपने मित्र विश्वानुलोम चर ज्योतिषी देव को धर्म परीक्षा के द्वारा उसे जैन धर्म की श्रद्धा कराने के लिये वहाँ आया, और दर्शनार्थ जाते हुए राजा के ऊपर घोर उपसर्ग किया, किन्तु भक्ति रस मे भरा हुआ राजा मन्त्रियो के द्वारा समझाए जाने पर भी नही रुका तथा "ॐ नम वासुपूज्याय" कहता हुआ प्रस्थान कर गया । समवसरण मे पहुँच कर राजा ने जन्मजन्मान्तरो के मिथ्या भावो को नाश करने वाले भगवान वासुपूज्य के दर्शन किये, दीक्षा ली, और चारज्ञानो से युक्त होते हुए गणधर हो गये । इसलिये हे क्षपक ! आपको इस सल्लेखना रूपी सरिता को पार करने के लिये भक्ति रूपी नाव का आश्रय ग्रहण करना चाहिए ।

णमोकार मन्त्र के चिन्तन का उपदेश :—

भो मुने ! पंच नमस्कार मन्त्र का चिन्तन कषायों की मन्दता और आराधना की सफलता कराने वाला है। संसार का छेद करने में समर्थ है, क्योंकि जैसे सेनापति के बिना चतुरङ्ग सेना कुछ नहीं कर सकती उसी प्रकार सल्लेखना के समय पंच-नमस्कार रूप भाव नमस्कार के बिना चारों आराधनाओं में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। जैसे हाथ के बिना ध्वजा ग्रहण नहीं हो सकती, उसी प्रकार पञ्चनमस्कार मन्त्र की धारणा बिना आराधना रूपी पताका भी ग्रहण नहीं हो सकती।

देखो ! जब सुभग नाम के अज्ञानी ग्वाले ने इस नमस्कारी मन्त्र के प्रभाव से एक ही भव में मोक्ष प्राप्त कर लिया, तब क्या चारों आराधनाओं का सुचारुरीत्या पालन करने वाले आपका संसार विच्छेद नहीं होगा ? अवश्य होगा।

सुभग ग्वाले की कथा:—

अङ्गदेशान्तर्गत चम्पापुरी नगरी का राजा धात्रीवाहन था। उसकी रानी का नाम अभयमति था। उसी नगर में वृषभदत्त नाम का एक सेठ रहता था, जिसकी स्त्री का नाम जिनमती था। इस सेठ के यहाँ सुभग नाम का ग्वाला था, जो सेठ की गायें चराया करता था। शीतकाल में एक दिन जब वह गायें लेकर घर लौट रहा था तब एक मुनिराज को ध्यानारूढ़ देखा। इस भीषण शीत में ये कैसे रहेंगे ? इस विकल्प से वह दुखित हो उठा, और रात भर आग जलाकर मुनिराज की शीत बाधा दूर

करता रहा। प्रातः मुनिराज ने मौन विसर्जन किया, और धर्मोपदेश के साथ साथ "णमो अरिहंताणं" यह मन्त्र भी दिया, और स्वयं भी यही पद बोलते हुए आकाश मार्ग से चले गये। मन्त्र उच्चारण के साथ ही मुनिराज का आकाश मे गमन देख कर ग्वाले को इस मन्त्र पर अटल श्रद्धा हो गई और वह निरन्तर भोजनादि सम्पूर्ण क्रियाओ के पूर्व महामन्त्र का उच्चारण करने लगा।

एक दिन उसकी गायें गगा के दूसरी पार चली गई उन्हे वापिस लाने के लिये वह गगा मे कूदा। कूदते ही उसका पेट एक तीक्ष्ण काष्ठ से फट गया। उस समय उसने महामन्त्र का उच्चारण करके अपने उसी सेठ के पुत्र होने का निदान कर लिया। निदान के फलानुसार वह सेठ के यहाँ पुत्र रूप मे उत्पन्न हुआ। बालक का नाम सुदर्शन रखा गया। काल पाकर मे सुदर्शन ने राज्य वैभव का भोग किया। अन्त मे दीक्षा धारण की और स्त्रियो एव देवियो के द्वारा घोर उपसर्ग को प्राप्त होते हुए मोक्षगामी हुए।

भो क्षपकराज! णमोकार मन्त्र के एक अक्षर का भाव सहित स्मरण करने से सात सागर पर्यन्त भोगे जाने वाले पापो का, भावसहित एक पद के स्मरण से ५० सागर पर्यन्त भोगे जाने वाले पापो का, भावसहित सम्पूर्ण मन्त्र के स्मरण से ५०० सागर पर्यन्त भोगे जाने वाले पापो का नाश हो जाता है, तथा भावपूर्वक एक लाख जप करने वाला तीर्थंकर होता है, इसमे सन्देह नही है

अतः आपको असंख्य दुःखों का क्षय करने वाले और इस निकृष्ट पंचम काल में भी कल्पवृक्ष के सदृश मनोरथों को पूर्ण करने वाले इस महामन्त्र का स्मरण निरन्तर करना चाहिये ।

ज्ञानोपयोग की महत्ता का उपदेशः—

हे योगी ! स्वतत्त्व और परतत्त्व का प्रकाश करने के लिये सम्यग्ज्ञान दीपक के सदृश है, और चित्तरूप मदोन्मत्त हाथी को वशीभूत करने के लिये अंकुश के समान है। जिस प्रकार गुरुमुख से साधन की हुई विद्या पिशाचों को भी मनुष्य के आधीन कर देती है, उसीप्रकार भलीप्रकार आराधन किया हुआ सम्यग्ज्ञान मन रूपी पिशाच को आत्मा के आधीन कर देता है, अतः हे आत्मानुरागी मुने ! आपको भी इस ज्ञानोपयोग की स्थिरता द्वारा अपने मन को क्षुधादि परिषहों के निमित्त से उत्पन्न होने वाले अशुभ ध्यान से मोड़ कर आत्माधीन करना चाहिये ।

जिस प्रकार विधि पूर्वक आराधन किया हुआ मन्त्र कृष्ण सर्प के विष को उपशमित कर देता है, उसी प्रकार दिगम्बर गुरुजनों से आराधन किया हुआ ज्ञान, मन रूपी कृष्ण सर्प की आकुलता को उपशमित कर देता है ।

जैसे वरत्रा (गजबन्धनी) के द्वारा मदोन्मत्त हाथी को बांध कर जन-जीवन की रक्षा की जाती है, उस ही हे साधो ! सम्यग्ज्ञान रूपी वरत्रा से मन रूपी हाथी को बांध कर अपने आत्मिक गुणों की रक्षा करना चाहिये ।

जिस प्रकार दुर्जन का संग साधु को निर्विकार चित्त कलु-

मे असमर्थ है, उसी प्रकार पचेन्द्रियो के विषयो के विना यह मन एक क्षण भी निर्विकार स्थित रहने में असमर्थ है, अतः इस परमागम मे इस प्रकार रमण कराना चाहिये, जिससे वह सन्ने खना रूपी महायज्ञ मे विघ्न उपस्थित न कर सके।

सूर्य आदि के सभी उद्योतो से ज्ञान का उद्योत सर्वोत्कृष्ट है, क्योकि इस उद्योत को न कोई रोक सकता है, न नाश कर सकता है, न हरण कर सकता है और न मलिन कर सकता है। यह ज्ञान रूप उद्योत सम्पूर्ण लोक अलोक को पकाशित करने म समर्थ है।

हे साधो ! देखो ! जव यम नाम का राजा तीन खण्ड श्लोकों का स्वाध्याय करने से सप्त ऋद्धियो को प्राप्त हुये थे, तब जो मुनिराज जिनेन्द्र कथित सूत्रो का निरन्तर अध्ययन करते हैं उनका तो कहना ही क्या ?

यम राजा की कथा :—

उड्ड देशान्तर्गत धर्म नगर मे राजा यम राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम धनवती, पुत्र का नाम गर्दभ और पुत्री का नाम कोणिका था। किसी ज्योतिषी ने कोणिका की जन्मपत्रिका देख कर राजा से कहा कि इस कन्या का जिसके साथ विवाह होगा वह संसार का सम्राट होगा। यह बात सुनकर राजा ने अन्य क्षुद्र राजाओं की दृष्टि से बचाने के लिये कन्या को बंद घर मे रखना शुरू कर दिया।

२ आणाणत्व कि पात्नीवह तुन्हे पत्थणि बुद्धि या छिद्दे अच्छइ कोणिआ इति ।

अर्थ—१ बालकों से सम्बन्धित:—हे बच्चो ! तुम्हारी बुद्धि मे क्या पत्थर पड गये हैं ? तुम्हारी कोणिका (गेंद) तुम्हारे पास वाले गड्ढे मे पड़ी है। तुम इधर उधर क्या देखते हो ।

२ पुत्र की ओर:—हे पुत्र ! तुम्हारी कोणिका (बहिन) तुम्हारे पास वाले गड्ढे (तलघर) मे है, तुम इधर उधर क्या देखते हो ।

३ आत्माभिमुख—रे मन रूपी बालक ! तुम्हारा (कोणिका) सुख तुम्हारे भीतर है। तुम इधर उधर (बाह्य पदार्थों मे) खोजते हुये क्यों व्यर्थ दु खी हो रहे हो ।

३ अम्हाणत्थि भय दिहादो दीसदे भय तुम्हेति ।

अर्थ.—१ घटना की ओर—रे मेढक ! तू मुझ से मत डर । पीछे वाले सर्प से भय कर ।

२ पुत्र की ओर—रे गर्दभ (राजपुत्र) ! तू मेरे से भय मत कर-तेरे पीछे वाले (मन्त्री) से भय कर ।

३ आत्माभिमुख:—हे आत्मन् ! तू अपने स्वभाव से भय मत कर-अपने पीछे लगे हुए रागद्वेष आदि से भय कर ।

यम मुनिराज, साधु सम्बन्धी प्रतिक्रमण, स्वाध्याय एवं वृत्ति धर्म आदि सभी क्रियाएँ इन तीन खण्ड श्लोको द्वारा ही किया करते थे, क्योंकि वन मे उन्हे सात ऋद्धियाँ प्राप्त हो गई थी ।

हे क्षपक! यम मुनि की अपेक्षा तो आपके पास बहुत ज्ञान है, अतः आप उस ज्ञान के बल से अपनी समाधि के अनुष्ठान को सफल बनाने का प्रयत्न करो।

चारित्राराधना की शुद्धि का उपदेश:—

हे साधो! गुरु द्वारा प्रदत्त पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तियों का विधिवत् पालन करके चारित्र की विशुद्धि करना चाहिये, क्योंकि चारित्र की विशुद्धि ही कर्मों का संवर और निर्जरा करा कर मोक्ष प्राप्त कराने में समर्थ है।

चारित्ररूपी महारत्न के ऊपर प्रमाद रूपी चोरों की दृष्टि लगी हुई है, यहाँ रात्रि प्रायः समाप्त होने को है (जीवन पूरा हो चला है। ऐसा न हो कि पुरानी गाढ़ (मोह) निद्रा इन चोरों को रत्न चुराने का अवसर प्रदान करा दे।

हे क्षपक! देखो! मधुमक्खियाँ थोड़े थोड़े पराग का संचय करते हुए बहुत काल में मधु एकत्रित कर पाती हैं, किन्तु मधु का इच्छुक पुरुष एक क्षण में उस मधु छत्ते को भेद कर उसका सारभूत पदार्थ निकाल कर ले जाता है। इसी प्रकार आपके द्वारा दीर्घ काल से संचित किया हुआ बहुमूल्य रत्नत्रय का सारभूत पदार्थ (संवर या चारित्र) उपसर्ग, परीषह, रोग आदि की तीव्र वेदना और कषाय आदि के द्वारा नष्ट किया जा सकता है, अतः इसकी सुरक्षा का पूर्ण ध्यान रखते हुए इसकी वृद्धि में प्रयत्नशील रहो।

हे मुने ! इस समाधि रूपी सम्बल के द्वारा संयम का पूर्णता कर लेना चाहिये, किन्तु यदि पूर्णता न कर सको तो कम से कम चारित्र की जितनी विशुद्धि है उसे तो मत छोडो।

तप आराधना की शुद्धि का उपदेशः—

हे साधो ! अपने आत्मकल्याण के लिये चित्त-संक्लेश, दुर्ध्यान, दुर्लेश्या, आलस्य, सुखो मे आसक्तता शरीर का सुखिया-पना तथा और भी आस्रवो के अन्य कारणो को रोक कर आपको बारह प्रकार के बाह्याभ्यन्तर तपो की परमविशुद्धि करना चाहिये, क्योंकि मायाचार रहित उज्ज्वल परिणामो से किया हुआ तप उभयलोक मे विविध प्रकार की ऋद्धि को प्रदान करने वाला है। वट बीज के सदृश अल्प भी तप असंख्यकाल के अगणित कर्मो का नाश करने वाला है। जैसे विवेक पूर्वक दी हुई शक्तिवान् औषधि भीषण रोगो का नाश करती है, वैसे ही शक्तिप्रमाण किया हुआ अल्प भी सम्यक् तप, जन्म मरण रूपी रोग को नष्ट करने वाला है, संसार की महादाह को शान्त करने के लिये शीतलगृह है, कामना पूर्ति के लिये कामधेनु है, वाञ्छित फल प्रदान करने के लिये चिन्तामणि रत्न है, उत्तम मंगलभूत है, सच्चा शरण है और कर्म रूपी तृणों को दग्ध करने के लिये दावानल है।

भो तपस्विन् ! जैसे अपने प्रयोजन को सिद्ध करने वाला स्वामी, वेदना से पीडित नौकर पर दया न करते हुये उसे अपने कार्य मे प्रेरित किये रहता है, वैसे ही सस्तर ग्रहण मे जीर्ण शीर्ण हुये तथा रोगादि वेदना से युक्त इस शरीर रूपी नौकर पर दया-

क्योकि कषायो का निग्रह, इन्द्रिय-दमन, चित्त निरोध और रत्न-त्रय मे दृढता आदि लक्षण धर्मध्यान के द्योतक हैं ।

हे क्षपक ! रत्नत्रय आदि अनेक गुण रत्नो से भरी हुई तुम्हारी नौका, सस्तर रूपी (समुद्र) किनारे तक आ चुकी है, अब कही यह परीषह आदि झझावात के झोको से डूब न जाय। इसकी रक्षा अति आवश्यक है, और वह धर्मध्यान के अवलम्बन से ही हो सकती है. अत चारो प्रकार के धर्म ध्यानो मे ही प्रवृत्ति करो ।

वैराग्य वर्धक बारह भावनाओं का उपदेश :—

धर्मध्यान मे निरत हे क्षपक ! तुम ससार, शरीर और भोगो मे लगे हुए अपने रागभाव को दूर करने के लिये वैराग्य वर्धक बारह भावनाओ का निरन्तर चिन्तन करो । ये द्वादश भावनाएं वैराग्य की माता है, समस्त जीवो का हित करने वाली है, दु ख पीडित जीवो को शरणभूत हैं, आत्मा को प्रसन्न करने वाली है, परमार्थ मार्ग को दिखाने वाली है, तत्त्वो का निश्चय कराने वाली है, सम्यक्त्व की रक्षा करने वाली है और अशुभ-ध्यानो को नष्ट करने वाली है, अत कल्याण की परम्परा को अक्षुण्ण रखने के लिये नित्य ही इनका चिन्तवन करना चाहिए ।

नोट —यहाँ अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओ का पृथक् पृथक् उपदेश मनाना चाहिये ।

त्याग करो तथा सन्तोषामृत रूपी भोजन से अपनी आत्मा को तृप्त करो।

हे क्षपक! इसी प्रकार तिर्यञ्चगति जन्य अनेकों पर्यायों में अनेकों प्रकारों से असह्य भूख की पीडा सहन की है। मनुष्य पर्याय मे भी वन्दीगृह आदि मे तथा नीच, दरिद्र आदि खोटे कुलों मे, तथा दुर्भिक्ष आदि पड़ने पर भूख से आकुल व्याकुल होते अति उग्र दु:खो को अनन्त काल तक भोगा है, उसका स्मरण करो, और सन्तोष रूप आहार से इस तपोजनित क्षुधा वेदना की ज्वाला को दृढता पूर्वक शान्त करो। देखो! छिद्रयुक्त पात्र के सदृश इस शरीर को जीवन भर अनेक प्रकार के भोजन पान से भरा है किन्तु यह कभी पूर्ण नही भरा गया, तत्काल खाली होता गया क्योंकि इसका स्वभाव ही ऐसा है। इसलिए अब सल्लेखना की सिद्धि के लिए रागभाव का विनाश कर अपने मन को ज्ञानामृत से तृप्त करो। अहो क्षपक! जिस प्रकार जल के सिंचन से चमड़ा दुर्गन्ध ही छोडता है उसी प्रकार अन्नपानादि देने से यह शरीर रूप चमड़ा भी विष्टा आदि मल के द्वारा दुर्गन्ध ही छोडता है अतः अब आपका उपयोग मल की वृद्धि कराने वाले शरीर के सिंचन की ओर कदापि न जाना चाहिए, प्रत्युत दुष्कर तप रूपी अग्नि के द्वारा इसे सुखाना ही चाहिए क्योंकि जैसे भली प्रकार सुखाया हुआ चमड़ा दुर्गन्ध रूप विकार को छोड देता है उसी प्रकार तप से भली प्रकार सुखाया हुआ यह शरीर भी मल मूत्र आदि विकारों को छोड़ कर निर्मल बन जाता है।

है ? कमजोर है ? या ज्ञान हीन है ? नही । नहीं । अनन्त धन के धनी, ज्ञान शक्ति से परिपूर्ण, वैराग्य रस से भरी हुई और भेद विज्ञान रूपी रग मे रगी हुई हमारी आत्मा को यह तृषा आदि की वेदना चलायमान नही कर सकती । हे क्षपक ! इस प्रकार आत्म शक्ति के अवलम्बन से धैर्य रूप घड़े मे ध्यान रूप शीतल एवं सुगन्वित जल से तृषा रूपी अग्नि की शिखा को बुझा कर शान्त करो और अपने उसी धैर्य रूपी गृह मे विवेक रूपी दीपक के उद्योत से निजस्वरूप का अवलोकन करते हुए अपने सयमादि गुणो की रक्षा करो ।

इसी प्रकार क्षपक को शय्या परीषह, अरति, रोग, आक्रोश और शीतोष्ण आदि परीषहो के जीतने का उपदेश देना चाहिये विस्तार भय से वह यहाँ नही लिखा जा रहा है ।

हे आत्मन् ! इस समाधिमरण के सर्वोत्तम समय को प्राप्त करके आराधना सहित मरण के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए क्योकि यह अवसर अब अनन्त भवो में भी नही मिलेगा । देखो स्यालनी द्वारा तीन दिन तक खाये जाने पर भी सुकुमाल महामुनि ने आराधनाएँ नही छोडी, फिर आपके शरीर मे ऐसा कौन सा दुःख है जो आप आकुलित हो रहे है ।

सुकुमाल मुनि की कथा :—

अवन्ति देश के उज्जैन नगर मे रहने वाले सुरेन्द्रदत्त सेठ और यशोभद्रा सेठानी के एक सुकुमाल नाम का पुत्र था, जो

हूं, परद्रव्यो मे भिन्न और अपने अनन्त गुणो का भण्डार हूं यह शरीर अचेतन है, निन्द्य है, क्षणक्षयी है तथा मलमूत्र आदि का आधार होने से दु खो का स्थान है, इसलिए इस शरीर के माध्यम से उत्पन्न होने वाले अल्प कष्टो के वशीभूत होकर चिरकाल मे भावित आराधनाओ का विनाश मुझे नही करना चाहिए।

भो भव्यात्मन् ! अब महामुनि उपसर्ग विजेता सुकोशल मुनि की कथा सुनो और विचार करो कि जब वे इतना भयङ्कर उपसर्ग आने पर भी अपने स्वभाव से विचलित नही हुए तब मेरे शरीर मे ऐसा क्या कष्ट है, जो मैं खेदखिन्न होता हुआ आर्तध्यान रूपी वनी मे भटक रहा हूं।

सुकोशल मुनिराज की कथाः—

अयोध्या नगरी मे प्रजापाल राजा राज्य करते थे। उसी नगर मे सिद्धार्थ नाम के सेठ अपनी सहदेवी आदि बत्तीस स्त्रियो के साथ सुख से रहते थे। बहुत समय व्यतीत हो जाने के बाद उनके सुकोशल नाम का पुत्र हुआ, जिसका मुख देखते ही सिद्धार्थ सेठ मुनि हो गये। सुकोशलकुमार का भी बत्तीस कन्याओ से विवाह हुआ उनके साथ वे महाविभूति का उपभोग करते हुए सुख से जीवन यापन करने लगे। एक समय विहार करते हुए सिद्धार्थ मुनि भिक्षार्थ अयोध्या आये। "इन्हे देखकर मेरा पुत्र मुनि हो जायगा" इस भय से सेठानी ने उन्हे नगर से बाहर निकलवा दिया। "जो एक दिन इस नगर के स्वामी थे उन्ही का आज इतना अनादर किया जा रहा है" यह सोच कर सुकोशल की

करने में आजतक कोई समर्थ नही हुआ, न कोई शरण ही मिला। कोई विशेष पुण्योदय से मनुष्यगति, उच्चकुल, इन्द्रियो की पूर्णता, सत्पुरुषो का समागम तथा भगवान् जिनेन्द्र के परमागम का उपदेश प्राप्त हुआ है अत अब श्रद्धान, ज्ञान, योग एवं संयम आदि के अवलम्बन से देह से भिन्न अपने ज्ञान स्वरूप आत्मा का अनुभव करते हुए भय रहित चारो आराधनाओ का शरण ग्रहण करो क्योकि त्रैलोक्य मे जीवका हित करने वाला अन्य कोई नही है। ससार परिभ्रमण से छुडाने की सामर्थ्य समाधिमरण मे ही है।

भो मुने ! देखो ! गजकुमार मुनि के ऊपर कैसा उपसर्ग आया था। क्या वे अपने लक्ष्य से विचलित हुए ? नही। तो आपको भी उनके ही सदृश धैर्य का अवलम्बन लेना चाहिए।

गजकुमार मुनिराज की कथा :—

श्रीकृष्ण नारायण के सुपुत्र गजकुमार अति सुकुमार थे। वे अपने पिता आदि के साथ धर्मोपदेश सुनने के लिये भगवान् नेमिनाथ के समोशरण मे जा रहे थे। मार्ग में एक ब्राह्मण की नव यौवना, सर्वगुणसम्पन्ना, सुलक्षणा और सौन्दर्यमूर्ति पुत्री को देखकर श्री कृष्ण ने उसे उसके पिता से गजकुमार के लिये मगनी करली और उसे अन्त पुर मे भिजवा दिया। भगवान् का उपदेश सुनकर श्रीकृष्ण तो सपरिवार द्वारका लौट आये परन्तु गजकुमार नही लौटे और जैनेश्वरी दीक्षा धारण करके किसी एकान्त स्थान मे ध्यानारूढ हो गये। जिस लड़की का सम्बन्ध गजकुमार से किया था उसका पिता जगल मे समधियो को लेकर लौट रहा था,

अहो साधो ! असाताकर्मोदय से उत्पन्न होने वाले इन क्षुद्र रोगो से अपने चित्त को आकुलित मत करो। देखो ! सनत् कुमार मुनिराज के शरीर मे भयङ्कर कुष्ट वेदना उत्पन्न हुई थी, उस समय उन्होने उसकी उपेक्षा करके आराधनाओ का ही संरक्षण किया। आपको भी उसी मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।

सनतकुमार मुनिराज की कथा :—

भारतवर्ष के अन्तर्गत वीतशोक नगर मे राजा अनन्तवी रानी सीता के साथ कालयापन करते थे। उनके सनत्कुमा नाम का अत्यन्त रूपवान् पुत्र उत्पन्न हुआ, जो महापुण्योदय चक्रवर्ती की विभूति को प्राप्त कर नवनिधि और चौदह रत्नो क स्वामी हुआ। एक दिन सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र अपनी सभा मे उनके रूप की प्रशंसा कर रहा था, जिसे सुनकर मणिमाल और रत्नचूल नाम के दो देव गुप्त भेष मे आये और स्नान करते हुए चक्रवर्ती का त्रिभुवन प्रिय सर्व सुन्दर रूप देख कर आश्चर्यान्वित हुए। इसके बाद उन देवो ने अपने असली वेष मे आकर वस्त्रालंकारो से अलंकृत सिंहासन पर स्थित चक्रवर्ती के रूप को देखा और खेदित हो उठे। राजा ने इसका कारण पूछा तब देव बोले—महाराज ! यथार्थ मे आपका रूप देवो को भी दुर्लभ है, इसकी तो हमे प्रसन्नता है किन्तु मनुष्य का रूप क्षणक्षयी है यह देखकर हमे खेद हुआ। जो रूप कुछ समय पहिले स्नानगृह मे देखा था, वह अब दिखाई नहीं देता। यह बात सभासदो की समझ मे नही आई।

विचार करना चाहिए कि यह रोग इस जड पदार्थ को पीडा दे रहा है, किन्तु अमूर्त एव चिदात्मक आत्मा को पीड़ा नही दे सकता। जैसे घर मे लगी हुई आग घर को जला सकती है किन्तु घर के भीतर विद्यमान अमूर्त आकाश को नही जलाती। शरीर मे उत्पन्न होने वाले ये रोग मेरे परम हितकारी हैं क्योंकि ये पूर्वोपार्जित पाप कर्मो का विनाश करते है और शरीर के प्रति होने वाले राग का उपशम करा कर संवेग की वृद्धि करते है, इसलिये मेरे पडोसी शरीर मे होने वाले रोगो की मुझे कोई चिन्ता नही है, यदि चिन्ता है तो मात्र इतनी कि चिरकाल से आराधित इन आराधनाओ का विघात न हो।

हे मुने! प्राय देखा जाता है कि कष्ट एव रोगादि के आक्रमण से पीडित व्यक्ति अपनी श्रद्धा से च्युत हो जाते हैं, किन्तु धन्य है आचार्य समन्तभद्र को जो महा भयंकर रोग के उत्पन्न हो जाने पर भी अपनी समीचीन श्रद्धा से विचलित नही हुए।

समन्तभद्र मुनिराज की कथा :—

समन्तभद्र स्वामी का जन्म दक्षिण प्रान्त के अन्तर्गत काञ्ची नगर मे हुआ था, आप राजा के पुत्र थे, आपका पूर्व नाम शान्ति वर्मा था किन्तु आप दीक्षा के बाद समन्तभद्र नाम से प्रसिद्ध हुए। आप बडे तत्वज्ञानी और न्याय, व्याकरण एव साहित्य आदि विषयो के प्रकाण्ड विद्वान् थे। घोर तपस्वी एव उत्कट विद्वान् होने पर भी आपको असातावेदनी के तीव्र उदय मे भस्मव्याधि नामका भयङ्कर रोग हो गया था। आपने आगम-

परम्परानुसार गुरु से समाधि की याचना की किन्तु "इनके द्वारा जैन धर्म का विशेष उद्योत होने वाला है" यह समझ कर गुरु ने उन्हें समाधि की आज्ञा न देकर रोग शमन करने की आज्ञा दी। रोग शमन के साथ साथ ही आपने अपनी समीचीन श्रद्धा के बल पर राजा से कह दिया कि राजन्! मैं शिवपिण्डी को नमस्कार तो कर सकता हूं, किन्तु मेरा नमस्कार सहन करने की सामर्थ्य शिवपिण्डी में नहीं है। कारण—वे राग, द्वेष, क्रोध, मान और माया आदि विकारों से दूषित हैं। जिस प्रकार पृथ्वी के पालन का भार एक सामान्य व्यक्ति नहीं उठा सकता, उसी प्रकार मेरी पवित्र और निर्दोष नमस्कृति को एक रागद्वेषादि विकारों से अपवित्र देव नहीं सह सकता, किन्तु जो अठारह दोषों से रहित हैं, केवलज्ञान रूपी प्रचण्ड तेज के धारक हैं और लोकालोक के प्रकाशक हैं, वही जिन सूर्य मेरे नमस्कार के योग्य हैं और वही मेरे नमस्कार को सहन कर सकते हैं। इसके बाद भी यदि आप विशेष आग्रह करते हैं तो इस शिवपिण्डी की कुशल नहीं यह तुरन्त फट जायगी।

जैन धर्म पर कितनी अटूट श्रद्धा, कितनी दृढ़ता, कितना दृढ़ विश्वास जिसके बल पर पाषाण की शिवपिण्डी में से चन्द्र के समान चन्द्रप्रभु भगवान् की जिन प्रतिमा प्रगट करके जैन धर्म का उद्योत किया।

हे क्षपक! आप भी रागादिक विकारों से रहित वैराग्निक गुरु, प्रचण्ड तेज के धारक अपने ज्ञायक स्वभाव की शरण

लिया गया। कावि मन्त्री निरन्तर नन्द वश के विनाश की सामर्थ्य रखने वाले मनुष्य को खोजता रहता था। एक दिन उसने पैर — पीडा देने वाली दर्भ को जड से उखाडते हुए चाणक्य को दे और विचार किया कि यही व्यक्ति नन्दवश का नाश कर सक है। एक दिन भोजन के लिए अग्र आसन पर वैठे हुए चाणक्य ने गर्दन पकड कर कावि मन्त्री ने वाहर निकाल दिया, और वोला— कि इसमे मेरा कोई अपराध नही, मुझे तो यह कार्य राजा की आज्ञा से करना पडा। चाणक्य इस अपमान को न सह सका और उसने शक्ति संचय करके राजा को मार डाला, तथा स्वय ने बहुत काल तक राज्य किया।

एक समय राजा चाणक्य ने महीधर मुनिराज के समीप दीक्षा धारण करली। कुछ ही दिनो वाद इन्हे आचार्य पद — गया और ये पांच सौ शिष्यो के साथ वनवास देश के क्रौं नगर मे आकर ठहर गये। अपनी अल्प आयु जान कर चाण ने वही प्रायोपगमन संन्यास धारण कर लिया।

राजा नन्द का दूसरा मन्त्री सुवन्धु था, जो राजा मृत्यु के वाद क्रौंचपुर के राजा सुमित्र का मन्त्री हो गया था सुवन्धु मिथ्यादृष्टि था और उसे राजा का नाश करने वाले चाणक्य पर क्रोध भी वहुत था, अतः चाणक्य से वदला लेने के अभिप्राय से उसने मुनिराजो के चारो ओर खूब घास एकत्रित करवा कर आग लगवा दी। चाणक्य सहित समस्त मुनिराजो ने सहनशीलता पूर्वक उपसर्ग सहन किया और शुक्लध्यान रूपी आत्मशक्ति से कर्मों का नाश कर निर्वाण प्राप्त कर लिया।

क्योंकि ये सब वस्तुएं भ्रान्ति से रम्य प्रतिभासित होती हैं। यथार्थ मे विचार करने पर कदली तरु के सदृश असार है। जीवन की इच्छा करने से इस लोक मे हास्य का पात्र बनना पडता है, और परलोक बिगडता है। इसलिए प्रयत्न पूर्वक अपनी आत्मा को इस अतिचार से बचाओ।

मरणाशंसा :—

हे नरोत्तम ! दुःसह क्षुधादि की वेदना के भय से शीघ्र ही मरने की इच्छा मत करो, क्योंकि इस वेदना से अनन्तगुणी वेदना तुम अनन्तभवो मे भोग चुके हो, किन्तु वे सब परवशता पूर्वक तथा संक्लेश परिणामो से भोगी है, अतः कर्मक्षय का कारण न होकर संसार का ही कारण बनी। इस शुभ अवसर पर बुद्धि पूर्वक आमन्त्रित की हुई इन वेदनाओ को यदि साम्य परिणामो से सहन कर लोगे तो पूर्वोपार्जित दुष्कर्मों का नाश होगा और नवीन आस्रव का निरोध होगा, किन्तु यदि आपके हृदय मे शीघ्र मरण की इच्छा बनी रही तो आप आत्मघाती होते हुए दीर्घ संसारी होंगे, इसलिए आपको अपने हृदय से शीघ्र मरण की इच्छा का परिहार कर देना चाहिए।

मित्रानुराग :—

हे आराधक ! बाल्यावस्था मे एक साथ धूल मे खेलने वाले अपने मित्रों की स्मृति मत करो, उनमे स्नेह मत करो और उनसे मिलने की अभिलाषा मत करो अर्थात् अपनी आत्मा को मित्रों के साथ अनुरंजित मत करो। पूर्व मे अनेकों बार अनुभव

चिन्तन में क्षपक के उपयोग को लगाने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके बाद जब क्षपक के प्राणों का अन्त होने को हो तब से मृत्यु होने तक मधुर वाणी से धीरे धीरे कानो मे णमोकार मन्त्र सुनाते रहना चाहिए।

समाधिमरण का फल :—

यदि तद्भवमोक्षगामी जीव समाधि की साधना करता है तो समाधिमरण का साक्षात् फल तो मोक्ष है क्योंकि उत्कृष्ट आराधना का फल ही मोक्ष है। यदि मध्यम आराधना की साधना की तो जीव तीसरे भव मे कर्म रज से रहित होकर मुक्ति प्राप्त करता है और यदि जघन्य आराधना की साधना हुई तो वह जीव सातवें भव मे मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

लोक मे जितने भी सारभूत पद हैं, सुख व अभ्युदय के स्थान हैं, अर्थात् देवेन्द्र का वैभव, चक्रवर्ती की सम्पदा, स्वर्गीय ऋद्धियाँ, सर्वार्थ सिद्धि के सुख, और लौकान्तिक देवो का ब्रह्मर्षि पद यह सब स्थान चार आराधनाओ से प्राप्त होते हैं। सस्तर गत सर्व क्षपकों की आराधना एक सदृश नही होती, क्योंकि अन्त समय क्षपक का जैसा परिणाम रहता है वैसी ही आराधना कहलाती है।

जो मुनि या श्रावक इस समाधिमरण की साधना मे मन वचन काय से सहयोग देते हैं, समाधि के समय उपस्थित होकर आचार्य का उपदेश सुनते हैं, आराधना के समय क्षपक की सेवा

(आग्नेय) दिशा की निपीधिका से तू ऐसा, मैं ऐसा, वह ऐसा इत्यादि रूप मे स्पर्धा (ईर्षा) होती है। पश्चिमोत्तर (वायव्य) दिशा से सघ मे कलह, पूर्व दिशा से सघ मे फूट (सघ का छिन्न भिन्न होना), उत्तर दिशा से संघ मे व्याधि अर्थात् रोग होते है और पूर्वोत्तर (ईशान) दिशा की निषीधिका से सघ मे पक्षपात बढता है, परस्पर मे खींचातानी होती है और प्रथमतः एक मुनि का मरण भी हो जाता है।

समाधिमरण के उपरान्त क्या करें ?

जिस समय क्षपक का प्राणान्त हो उसी समय उसके शव को वैयावृत्य करने वाले मुनिजन स्वयमेव ले जाकर किसी पर्वत के समीप अथवा नदीतट आदि पर प्रासुक स्थान देख कर छोड़ देवें। यदि अकाल (रात्रि) मे मरण हो तो बाल, वृद्ध, शिक्षक, बहु तपस्वी, कायर स्वभावी, रोगी, वेदना आदि से दु खी मुनी एव आचार्य को छोड कर धीर, वीर एव निद्रा विजयी साधु क्षपक के समीप रह कर जागरण करें और कोई महान् आत्मवीर्य के धारक मुनिराज क्षपक के हाथ या पैर के अगुष्ठ का छेदन करें या बांध दे। यदि छेदन बन्धन की क्रिया न की जायगी तो धर्मद्रोही अथवा कौतुकस्वभावी व्यन्तरादि देव मृतक शरीर मे प्रवेश करके उठेगा, भागेगा तथा और भी अन्य प्रकार की क्रीडाएं करेगा, अथवा सघ मे बाधा उत्पन्न कर देगा जिससे नवीन दीक्षित मुनि, कायर स्वभावी एव मन्दज्ञानी मुनिराजों के परिणाम दर्शन, ज्ञान और चारित्र से विचलित हो जायेंगे जिससे बड़ा अनर्थ हो जायगा

देह को स्थापन करने की भूमि विच्छेद रहित सम करे, यदि डाभ या तृण न मिले तो ईंटो के चूर्ण अथवा वृक्षों की शुष्क केशर से संस्तर को सर्वत्र सम करे।

विषम संस्तर का फल :—

यदि संस्तर ऊपर की ओर ऊँचा नीचा होगा तो संघ के आचार्य का मरण होगा या रोग होगा। यदि मध्य मे विषम होगा तो संघ के किसी प्रधान मुनि का मरण होगा या रोग होगा और यदि नीचे की ओर विषम होगा तो किसी मुनि का मरण होगा या रोग होगा। (भगवती आ० पृ० ६३५ गा० ८२)

[संस्तर को सम बना कर यदि दर्भ न मिले तो प्रासुक तन्दुल एवं मसूर की दाल आदि का चूर्ण तथा कमल केशर आदि के द्वारा मस्तक[1] से लेकर पैर तक समान अर्थात् टूटी या टेढ़ी मेढ़ी रेखाएं न हों ऐसी बनावे। यदि ऊपर की रेखा विषम होगी

---

१ संस्तर को सम बनाकर चारो ओर चार खूंटी गाडे और उनके आधार से संस्तर को''' से तीन बार वेष्टित करे। पद्मासन से मृतक शव को सिर से पैर तक सुतली द्वारा माप कर उसी माप के प्रमाण संस्तर पर तीन रेखाओं द्वारा एक त्रिकोण बनावे। सर्व प्रथम भूमि पर चन्दन का चूरा डाले फिर रोली से त्रिकोण की तीनों रेखाएं (टूटी एवं विषम न हो) डाले, उसके बाद उस त्रिकोण के ऊपर सर्वत्र मसूर का आटा डाले। त्रिकोण के तीनों कोनों पर तीन उल्टे स्वस्तिक बनावे और तीनों रेखाओं के ऊपर

की क्रिया में सिद्ध, योग, शान्ति और समाधि भक्ति करना चाहिए। आचार्य की समाधि होने पर उनके शरीर और निषद्या की क्रिया मे सिद्ध, श्रुत, चारित्र, योग, शान्ति और समाधि भक्ति बोलना चाहिए, इत्यादि।

वैयावृत्य के लिये गृहस्थो के यहाँ से मगाये हुए वस्त्र तथा पाट आदि उपकरण जो लोटाने योग्य हों उन्हे यथास्थान लौटा देना चाहिए। (मू॰ आ॰ गा॰ १९८३)

जिस वसतिका मे क्षपक ने आराधनाओ की साधना की हो, वहाँ के अधिपति देव से समस्त मुनि इस प्रकार पूछे कि भो क्षेत्र के स्वामी ! तुम्हारी इच्छा से संघ यहाँ बैठना चाहता है।

अपने गण के मुनि का मरण होने पर उस दिन सर्व संघ को उपवास करना चाहिए और उस दिन स्वाध्याय नही करना चाहिए, तथा पर गण के मुनि का मरण होने पर स्वाध्याय नही करना चाहिये। उपवास भजनीय है।

क्षपक के मृत शरीर की स्थापना करने के बाद तीसरे दिन वहाँ जाकर देखना चाहिए कि संघ का सुख से विहार होगा या नहीं। तथा क्षपक को किस गति की प्राप्ति हुई है। जितने दिनों तक पशुपक्षी क्षपक के शरीर का स्पर्श नही करते उतने वर्षों तक उस राज्य मे क्षेम रहेगा। पशु पक्षी क्षपक के शरीर को जिस दिशा मे ले जावें उस दिशा मे विहार करने से संघ मे क्षेम आदि कुशल रहेगी। यदि क्षपक का मस्तक या दन्त पंक्ति पर्वत के शिखर पर दिखे तो समझना कि क्षपक को [illegible] की प्राप्ति हुई

वैयावृत्य आदि करने वाला व्यक्ति भी-देवगति के सुखों को भोग कर अन्त में निर्वाण प्राप्त करता है अतः सभी को मन वचन काय से सल्लेखना का आदर करना चाहिए।

समाधिग्रहण नक्षत्र से मरण काल का ज्ञान :–

जो क्षपक यथार्थ में संस्तरारूढ है, जिसकी अन्तर्बाह्य विशुद्धि है, साधना आत्मज्ञान पूर्वक है तथा आलोचना निर्दोष (मायाचारी रहित) हुई है, उस क्षपक का किस नक्षत्र मे यम-सल्लेखना लेने पर किस नक्षत्र मे मरण होगा ? इसका आगमानुसार विवेचन निम्न प्रकार है :—

१ अश्वनी नक्षत्र में संस्तरारूढ होने पर स्वाति नक्षत्र की रात्रि मे मरण होगा।

२ भरणी ,, ,, ,, रेवती नक्षत्र के प्रातःकाल मे मरण होगा।

३ कृतिका ,, ,, ,, उत्तराफाल्गुनि नक्षत्र मध्यान्ह काल मे ,,

४ रोहणी ,, ,, ,, श्रवण नक्षत्र मे अर्धरात्रि को ,, ,,।

५ मृगशिरा ,, ,, ,, पूर्वाफाल्गुन ,, मरण होगा।

६ आर्द्रा ,, ,, ,, दूसरे दिन मरण होगा, और यदि दूसरे दिन न हुआ तो आगामी उसी (आर्द्रा) नक्षत्र मे अवश्य होगा।

७ पुनर्वसु ,, ,, ,, अश्वनी नक्षत्र मे मरण होगा।

८ पुष्य ,, ,, ,, मृगशिरा नक्षत्र मे मरण होगा।

९ आश्लेषा ,, ,, ,, चित्रा नक्षत्र मे मरण होगा।

१० मघा ,, ,, ,, उसी दिन मरेगा अथवा आगामी उसी नक्षत्र मे होगा।

शरीर के परमाणु स्वयमेव आते हैं, स्वयमेव जाते हैं। स्वयमेव मिलते हैं, स्वयमेव विछुडते है, स्वयमेव गलते हैं, और स्वयमेव पूर्णता को प्राप्त होते है, तब मेरा आत्मा इस शरीर का कर्ता, भोक्ता कैसे ? मेरे द्वारा सम्हाल किये जाने पर भी यह शरीर रह सकता नहीं, और मेरे द्वारा दूर किये जाने पर भी दूर हो सकता नही, क्योकि यह मेरी आत्मा का कर्तव्य नहीं है। मैंने तो झूठा ही कर्तव्य मान रखा है, इसीलिये अनादि काल से खेदखिन्न एव आकुल-व्याकुल होता हुआ महादु ख पा रहा हूँ। सो यह दु:खो की प्राप्ति न्यायसंगत ही है, क्योकि जिसमे अपना उद्यम चलने वाला ही नही है ऐसे परद्रव्य का कर्ता वन कर उस परद्रव्य को अपने स्वभाव के अनुरूप परिणमन करना चाहता हूँ, अतः दु ख होगा ही होगा। अब मैं इस दु ख से छुटकारा पाने के लिये अपने आत्म तत्व की श्रद्धा को दृढ करता हूँ। मैं अपने एक ज्ञायक स्वभाव का ही कर्ता हूँ, उसी का भोक्ता हूँ, उसी की वन्दना करता हूँ और उसी का अनुभव करता हूँ, इसीलिये शरीर के नाश से मेरी कुछ हानि नहीं और शरीर के सुरक्षित रहने से मेरा कुछ सुधार (लाभ) नहीं। यह तो प्रत्यक्ष अचेतन द्रव्य है। जैसे काष्ठ, पाषाण है, वैसे ही अचेतन मेरा शरीर है। काष्ठ आदि की जड़ता मे और इसकी जड़ता मे कोई अन्तर नहीं है। इस शरीर के भीतर जो यह ज्ञान (जानन) पने का चमत्कार है, यह तो मेरा स्वभाव है, शरीर का स्वभाव नहीं है। शरीर तो प्रत्यक्ष मे मुर्दा है। शरीर मे से मेरे (आत्मा के) निकलते ही इसे सभी समझ

रहता नहीं है, केवल मोह दृष्टि से अन्यथा प्रतिभासित होता है, और उसे मोह का विषय ही कहा है, अतः जैसा वस्तु का स्वभाव है, वैसा ही मुझे प्रतिभासित हो रहा है। इस प्रकार [illegible]

[illegible]

यहाँ कोई कहे कि यह शरीर तुम्हारा नही है यह बात तो सत्य है, किन्तु यह शरीर ही मुनिपर्याय मे शुद्धोपयोग का साधन है, अत. इसका यह उपकार जानकर तो कम से कम इसे सुरक्षित रखने का उद्यम करना उचित है, इसमे तो आपका कोई घाटा नही है। इसके उत्तर मे कहते है कि हे भाई! आपने जो बात कही वह मै भी जानता हूँ कि शुद्धोपयोग का और ज्ञान, वैराग्य आदि गुणो की वृद्धि का कारण यह मनुष्य शरीर ही है, इस शरीर के न होने से अन्य पर्यायो मे इन गुणो की प्राप्ति दुर्लभ है, किन्तु अपने संयमादि गुणो के रहते यदि शरीर रहता है तो रहे और न रहे तो जाय। इससे मेरा कोई वैर तो है नही, जो मै इसे साधक होते हुए भी नाश करूँ, किन्तु अपने सयमादि गुण जब तक निर्विघ्न पलेगे तब तक ही इसकी रक्षा करूँगा, इसके बाद तो इसे अवश्य ही छोडूँगा। शरीर रक्षा के लिये सयमादि गुणों मे दूषण कदापि न लगाऊँगा। जैसे कोई रत्नो का व्यापारी रत्नद्वीप मे फूस की झोपड़ी बना कर रहता है और उस झोपडी मे रत्न ला ला कर इकट्ठे करता है, यदि अचानक उस झोपडी मे आग लग जाय तो वह विचक्षण पुरुष ऐसा विचार करता है कि किसी भी प्रकार इस अग्नि को शान्त करके रत्नो सहित झोपडी की रक्षा करना चाहिए। यदि यह झोपडी सुरक्षित रह जायगी तो इसके सहारे और भी बहुत से रत्न इकट्ठे कर सकूँगा। यदि वह पुरुष अग्नि को शान्त करने मे सफल होता है तो रत्नो के साथ साथ झोपडी की रक्षा कर लेता है और यदि

परमदयाल आनन्द मय अर्हन्त देव के दर्शन रूपी अमृत को पी पी कर उनके आदेशानुसार आचरण करूँगा। उस आचरण से मेरा कर्म कलक धुल जायगा और मैं पवित्र हो जाऊँगा। श्री तीर्थंकर देव के निकट दीक्षा ग्रहण कर नाना प्रकार के दुद्धर तपश्चरण करूँगा जिसकी अतिशयता से अत्यन्त निर्मल शुद्धोपयोग की प्राप्ति होगी, जिससे अपने आत्म स्वरूप मे अत्यन्त स्थिर होकर क्षपक श्रेणी चढने के सन्मुख होऊँगा, पश्चात् क्रीडा (क्षण) मात्र मे कर्म रूपी शत्रुओ को जड मूल से नाश करके केवलज्ञान उत्पन्न करूँगा, तव एक ही समय मे समस्त लोकालोक के त्रिकाल सम्वन्धी चराचर पदार्थ मुझे भी दिखाई देने लगेगे और यह अनुपम स्वभाव फिर अनन्त काल पर्यन्त शाश्वत रहेगा। इस प्रकार जव मैं ऐसी अपूर्व लक्ष्मी का स्वामी हूँ तव मुझे इस शरीर से कैसे ममत्व उत्पन्न होगा? सम्यग्ज्ञानी पुरुष ऐसी ही भावना मे अवस्थित रहता है। वह पुनः सोचता है कि मुझे तो दोनो ओर से आनन्द ही आनन्द है, यदि यह शरीर रहेगा तो भी शुद्धोपयोग की ही आराधना करूँगा और यदि नाश हो जायगा तो परलोक मे जाकर भी शुद्धोपयोग की ही आराधना करूँगा। इस प्रकार मुझे तो शुद्धोपयोग की आराधना मे कोई विघ्न दिखाई देता नही है तव भला फिर मेरे परिणामो मे संक्लेश उत्पन्न क्यो होगा? मेरा परिणाम शुद्ध स्वरूप मे अत्यन्त आसक्त है। उस आसक्ति को दूर करने मे एक मात्र मोह कर्म समर्थ था सो उसे मैंने पहिले जीत लिया है। अब त्रैलोक्य मे कोई मेरा बैरी रहा नहीं और

दृढ सकल्प है। ऐसा विचार करके पुनः अपने उपयोग को अपने आत्मस्वरूप मे ही लगावे, और यदि पुनः वहाँ से उपयोग लौटे तो अरहन्त, सिद्ध के आत्म स्वरूप का अवलोकन करे, उनके द्रव्य, गुण और पर्याय का विचार करे। उनके द्रव्य गुण पर्याय का विचार करते करते जब उपयोग निर्मल हो तब फिर उसे अपने स्वरूप मे लगावे। अपने स्वरूप सदृश अरहन्त सिद्ध का स्वरूप है, और अरहन्त सिद्ध के स्वरूप सदृश अपना स्वरूप है। किसी भी प्रकार द्रव्यत्व स्वभाव मे अन्तर नही है किन्तु पर्याय स्वभाव मे तो अन्तर है ही। जो मैं हूँ सो तो द्रव्यत्व स्वभाव का ही ग्राहक हूँ, अत. अरहन्त का ध्यान करते करते आत्मा का ध्यान भलीभांति बन जाता है और आत्मा का ध्यान करते करते अरहन्त का ध्यान हो जाता है। अरहन्त के और आत्मा के स्वरूप मे अन्तर नही है, चाहो तो अरहन्त का ध्यान करो और चाहो तो आत्मा का ध्यान करो।

अब कुटुम्ब परिवार से ममत्व कैसे छुडावे ? :—

वह कहता है कि अहो ! इस शरीर के माता पिता ! तुम भलीभांति यह जान लो कि यह शरीर जब तक आपका था तब तक था, अब तुम्हारा नही है। अब इसका आयु और बल समाप्त हो रहा है सो यह किसी के भी पुरुषार्थ से रह नही सकता। इसकी इतनी ही स्थिति थी अब इसके नाश का समय आ चुका है अत अब इससे ममत्व छोडो। अब इससे ममत्व करने से क्या ? इसकी प्रीति तुम सा ही कारण है यह [illegible]

प्रीति करता हूं वे कौन हैं ? यदि ये यथार्थ मे मेरे पुत्र आदि हैं तो शाश्वत मेरे पास क्यो नही रहे ? जन्म से पहिले ये कहाँ थे ? अब तुम्हे उन जीवो मे पुत्र आदि की बुद्धि उत्पन्न हुई है, और उनके वियोग मे शोक उत्पन्न होता है। अब आप से यही कहना है कि आप चित्त को सावधान करके विचार करो। भ्रम रूप बुद्धि के आधीन मत रहो। आप तो अपने कार्य का विचार करोगे तो सुख पावोगे। पर के कार्य अकार्य पर के हाथ हैं, उसमें आपका कर्तव्य कुछ भी नही चलेगा। आप लोग वृथा ही खेदखिन्न क्यो होते हो ? तथा अपने आप को मोह के आधीन कर ससार समुद्र मे क्यो डूबते हो ? इस संसार मे नरकादि के दुख आपको ही सहने पडे गे। ये कुटुम्बी जन कोई नही सहेगे, क्योकि जैनधर्म का ऐसा उपदेश नही है कि कोई पाप करे और कोई अन्य उसका फल भोगे। आप लोगो की अज्ञानता को देखकर मुझे बहुत दया आती है, इसलिए आप मेरा उपदेश ग्रहण करो, ग्रहण करो। मेरा उपदेश आप को बहुत सुखदाई है। मेरा उपदेश सुखदाई क्यों है ? क्योकि मैनें जैनधर्म का यथार्थ स्वरूप जान लिया है, और आप जैनधर्म मे अत्यन्त विमुख हो, इसलिए आप लोगो को दुष्ट मोह दुःख दे रहा है, और मैंने तो मोह को जैनधर्म के प्रताप से सुलभता पूर्वक जीत लिया है, इसलिये मैं एक जैन धर्म को ही विशेष जानता हूँ, और आप को भी जैन धर्म के स्वरूप का विचार करना ही कार्यकारी है। देखो ! आपकी आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता दृष्टा स्वभाव वाली है, और ये शरीरादि पर वस्तुएं हैं, और अपने

[illegible] स्वयमेव परिपालन करती है, किसी के प्राण भी [illegible] नहीं रह सकती । क्योंकि जीव भ्रम में पड़े हुए हैं, इसलिए हे भाई ! अब बुद्धि सीखो, और इस माया रूप को परित्याग करो, [illegible]

कदापि नही। अब इस समय मुझे ज्ञान भाव रूप पदार्थ की दृढ प्रतीति उत्पन्न हुई है। आपा पर का समीचीन ज्ञान हुआ है अत. अब मुझे ठगने मे कोई भी समर्थ नहीं है। अनादि काल से प्रत्येक पर्यायो मे अनेको बार ठगाया गया, इसी कारण भव भव मे जन्म मरण के भयङ्कर दु ख सहन किए है, इसलिए अब मैने भली प्रकार जान लिया है कि आपका और मेरा मात्र इस पर्याय का संयोग था सो अब समाप्त हो रहा है, अतः अब आपको भी आत्मकार्य ही करना उचित है, मोह करना उचित नही है। आपका अपना निज आत्म स्वरूप भी शाश्वत है अतः निरन्तर उसकी सम्हाल करते रहो। उसकी सम्हाल मे किसी प्रकार का खेद नही, किसी के पास जाकर कुछ याचना करना नही, अपने ही घर मे महा अमूल्य निधि है, यदि एक भी बार उस निधि की सम्हाल कर ली जाय तो जन्म जन्म का दुःख नाश हो जावे। इस ससार में जितना भी दु ख है वह केवल आत्मस्वभाव को न जानने से ही है, इसलिए एक आत्म ज्ञान की ही आराधना करो क्योंकि जो ज्ञान स्वभाव है वह अपना ही स्वभाव है, उसको प्राप्त करके जीव महासुखी हो जाता है, और उसकी प्राप्ति न होने से महादुखी रहता है। प्रत्यक्ष देखने जानने स्वभाव वाला ज्ञायक महापुरुष शरीर से भिन्न है, ऐसे अपने स्वभाव को छोड़ कर अन्य किसी बात मे प्रीति उत्पन्न करना उसी प्रकार है जिस प्रकार कोई [1]सोलहवें स्वर्ग का कल्पवासी देव

---

१ ऐसा ज्ञान होता है कि जैसे लेखक ने अज्ञानी जनो को समझाने के लिये इस प्रकार की कल्पना की है, क्योंकि आगम मे ऐसा विषय मुझे कहीं देखने मे

को वैरियो की फौज ने घेर लिया है इसलिए मैं अपना धन लेकर भाग रहा हूँ, दूसरे नगर मे जाकर अपना गुजारा करूँगा इत्यादि। नाना प्रकार के चरित्र करता हुआ भी वह कल्पवासी देव अपने सोलहवे स्वर्ग की विभूति को क्षणमात्र के लिए भी विस्मृत नही करता। उस विभूति को देख देख कर अन्तरग मे महासुखी होता है। उस रक पुरुष की पर्याय के सम्बन्ध से होने वाली नाना प्रकार की अवस्थाओ मे कदाचित् भी अहकार ममकार नही करता। एक मात्र सोलहवे स्वर्ग की देवागनाओ आदि विभूतियो मे और अपने देव पुनीत स्वरूप मे ही अहकार ममकार का भाव आता है, उसी प्रकार मैं सिद्ध समान आत्मद्रव्य इन सांसारिक पर्यायो मे नाना प्रकार की चेष्टा करता हुआ भी अपनी मोक्ष लक्ष्मी और सिद्ध सदृश अपने स्वरूप को एक क्षण के लिए भी विस्मृत नही होता हूँ, तब मैं इस लोक मे किसका भय करूँ।

अब स्त्री से ममत्व छुड़ाते हैं :—

अहो ! इस शरीर की स्त्री ! तू अब इस शरीर से ममत्व छोड। तेरा मेरे इस शरीर से इतना ही सम्बन्ध था सो अब पूर्ण हुआ। इस शरीर से अब तेरा स्वार्थ साधन होगा नही, इसमे अब तू मोह छोड। बिना प्रयोजन खेद मत कर। यदि तू इस शरीर को रख सकती है तो रख ले, मैं मना करता नही और यदि तू इसे रखने मे असमर्थ है तो अब छोड—इसमे मैं क्या करूँ ? हे रमणी ! तू विचार कर देख कि तू भी आत्मा है और मैं भी आत्मा हूँ, स्त्री पुरुष तो पर्याय है, जो विनाशीक

राहगीर दो चार रात्रि को एकत्रित रहे और पीछे बिछुरते समय शोक करें तो यह कहाँ की बुद्धिमानी है ? अब मेरा आप सब के ऊपर क्षमा भाव है। आप सब आनन्द से रहो। अनुक्रम से सबकी यही गति होना है। संसार का ऐसा चरित्र जान कर कौन ऐसा बुद्धिमान् है जो इससे प्रीति करेगा ?

अब पुत्र को बुला कर समझाता है :—

अहो पुत्र ! तुम समझदार हो मुझ से किसी प्रकार का मोह नहीं करना। एक जिनेन्द्र भगवान के द्वारा प्रतिपादित धर्म का आराधन करना। धर्म सुख देने वाला है, माता पिता कोई सुख देने वाले नहीं हैं। जो माता पिता को सुख का कर्ता मानते हैं यह सब एक मोह का ही माहात्म्य है, कोई किसी का कर्ता नहीं है और न कोई किसी का भोक्ता है। सर्व ही पदार्थ अपने स्वभाव के कर्ता भोक्ता हैं, इसीलिए मैं आप से कहता हूँ कि आप व्यवहार मात्र से मेरी आज्ञा मानते हो। यदि आप यथार्थ में आज्ञाकारी हो तो जो मैं कहूँ सो करो। देखो ! प्रथम तो देव, गुरु, धर्म की अवगाढ प्रतीति करो, साधर्मियों से मित्रता रखो, दान, तप, शील और संयम में अनुराग करो, स्व पर का भेद विज्ञान निरन्तर बना रहे ऐसा उपाय करो, और संसारी जीवों से प्रीति मत करो क्योंकि ये जीव संसार में सरागी जीवों की संगति से ही महादुःख भोग रहे हैं, इसलिए सरागी जीवों की संगति अवश्य छोड़ना, धर्मात्मा पुरुषों की संगति करना, क्योंकि धर्मात्माओं की संगति से उभयलोकों में सुख की प्राप्ति होती है। इस लोक में तो महा-

है तो परिग्रह एवं आहार आदि का दो चार घडी को नियम रूप त्याग करता हुआ नि:शल्य होने की चेष्टा करता है। पलंग से नीचे उतर कर सिंह के सदृश उसी प्रकार निर्भय तिष्ठता है, जैसे वैरियों को जीतने के लिए सुभट उद्यमी होकर रणभूमि मे स्थित होता है। किसी प्रकार की अंश मात्र भी आकुलता उत्पन्न न करता हुआ शुद्धोपयोग का अभिलाषी सम्यग्दृष्टि जीव मोक्षलक्ष्मी के पाणि-ग्रहण की वाछा करता हुआ उसमे ऐसा अनुरागी होता है मानो शीघ्र ही उसे वरण करना चाहता है। उसके हृदय मे मोक्ष लक्ष्मी का आकार टांकी से उत्कीर्ण किये हुये के सदृश स्थित रहता है। वह उसे शीघ्र ही वरण करना चाहता है इसीलिये अपनी परिणति मे राग भाव को स्थान नही देता। उसे इस बात का भय है कि कदाचित् मेरे स्वभाव मे रागांश आकर दोष उत्पन्न कर देंगे तो जो मोक्ष लक्ष्मी मुझे वरण करने के सन्मुख हुई है वह पीछे मुड जायगी इसलिये मैं इस राग परिणति को दूर ही से छोडता हूँ। ऐसे विचार करता हुआ वह सम्यग्दृष्टि जीव अपना काल पूर्ण करता है। उसके परिणामो मे निरन्तर निराकुल आनन्द रस प्राप्त करने की, शान्त रस मे तृप्त होने की और आत्मीक सुख की वाछा रहती है। एक अतीन्द्रिय सुख की ही वाछा उसे रहती है अन्य किसी वस्तु की वाछा नही रहती। यद्यपि उसके पास अभी धर्मात्मा जनो का सयोग है तथापि वह उस सयोग को पराधीन और आकु-लता रूप ही समझता है। निश्चय नय से वह विचार करता है कि ये सब सयोग सुख के कारण नही है, सु

समाधि मरण

[श्री शिवलाल जी]

चिदानन्द चिद्रूप का ध्यान धर।
परम ब्रह्म का रूप आया नजर॥
परम ब्रह्म की मुझको आई परख।
हुआ उर मे सन्यास का अब हरख॥
लगन आत्मा राम सो लग गई।
महा मोह निद्रा मेरी भग गई॥
खुली दृष्टि चैतन्य चिद्रूप पर।
टिकी आन कर ब्रह्म के रूप पर॥
सुखामृत की अब तो घटा घट मेरे।
शुद्धातम रहस की रटा रट मेरे॥
यहां आज रोने का क्या शोर है।
मेरे हर्ष आनन्द का जोर है॥
निरजन की कथनी सुनाओ मुझे।
न कुछ और बतियां बताओ मुझे॥
न रोओ मेरे पास इस वक्त मे।
कि सृष्टा हूँ खुश हाल खुश वक्त मे॥
जरा रोने का तयम्मुल करो।
नजर माहबानी की मुझ पर धरो॥
उठो अब मेरे पास से सब कुटुम।
तजो मोह मिथ्यात्व का सब बिटम।
जरा आत्मा मान उर आन दो।
परम ब्रह्म की सुध

परम ज्योति, परमेश, परमात्मा।
परम सिद्ध से सिद्ध शुद्धात्मा॥
चिदानन्द, चैतन्य, चिद्रूप हूँ।
निरजन, निराकार, चिरमूप हूँ॥
चिता मे धरो इसको ले जाके तुम।
हुये तुमसे रुखसत क्षमा लाके हम॥
कहीं जाओ ये देह क्या इससे काम।
तजी इसकी रावत मुहब्बत तमाम॥
मुये सग रह रह बहुत कुछ मुये।
मगर आज निर्गुण निरंजन हुये॥
तिहूँ जग में सन्यास को ये घड़ी।
मेरे हाथ आई है अद्भुत जड़ी॥
विषय विष से निर्विष हुआ आज मै।
चला चल से अविचल हुआ आज मै॥
परम ब्रह्म लाहा लिया आज मै।
परम भाव अमृत पिया आज मै॥
घटा आत्म उपयोग की आई झूम।
अजब तुर्फ तुरियां बनी रंग भूम॥
शुक्ल ध्यान टाली की टकोर है।
निजानंद झांझन की झंकोर है॥
अजर हूँ, अमर हूँ, न मरता कभी।
चिदानद सास्वत न डरता कभी॥
कि ससार के जीव मरते डरें।
परम पद को शिवनाग बंदन करें॥

———•———

श्रुतसागर आचार्य-कल्प मुनि, तुम हो तत्त्व-प्रकाशी ।
मन वच तन जो पूज रचावे, मेटे भव की फांसी ॥

ॐ ह्रीं आचार्यकल्प श्री श्रुतसागर मुनीन्द्राय
संसार तापविनाशनाय चन्दन नि० ॥२॥

अक्षय गुण भण्डार भरे हो, अवगुण दूर भगाऊं ।
अविनाशी अक्षय पद कारण, अक्षत अग्र चढ़ाऊं ॥
श्रुतसागर आचार्य-कल्प मुनि, तुम हो तत्त्व-प्रकाशी ।
मन वच, तन जो पूज रचावे, मेटे भव की फांसी ॥

ॐ ह्रीं आचार्यकल्प श्री श्रुतसागर मुनीन्द्राय
अक्षयपदप्राप्तये अक्षतान् नि० ॥३॥

काम बली को जीत भगाया, शिव रमणी के स्नेही ।
चरण चढ़ाऊं पुष्प सुगन्धित, कमल चमेली जूही ॥
श्रुतसागर आचार्य-कल्प मुनि, तुम हो तत्त्व-प्रकाशी ।
मन वच तन जो पूज रचावे, मेटे भव की फांसी ॥

ॐ ह्रीं आचार्यकल्प श्री श्रुतसागर मुनीन्द्राय
काम बाण विनाशनाय पुष्पम् नि० ॥४॥

स्वपर क्षुधा नाशन को उद्यत, रसना वश में कीनी ।
चरण चढ़ाऊं घेवर बाबर, मोदक, खाजे फीनी ॥
श्रुतसागर आचार्य-कल्प मुनि, तुम हो तत्त्व-प्रकाशी ।
मन वच तन जो पूज रचावे, मेटे भव की फांसी ॥

ॐ ह्रीं आचार्यकल्प श्री श्रुतसागरमुनीन्द्राय क्षुध[illegible]

श्रुतसागर आचार्य-कल्प मुनि, तुम हो तत्त्व-प्रकाशी।
मन वच तन जो पूज रचावे, मेटे भव की फांसी॥

ॐ ह्रीं आचार्यकल्प श्री श्रुतसागर मुनीन्द्राय
अनर्घ्यपद प्राप्तये अर्घ्यं नि० ॥९॥

॥ स्तोत्र ॥

श्री–सूरि कल्प श्रुत सिन्धु तुम्हें नमूं मैं।
सू–र्य प्रभा सम पुनीत तुम्हें नमूं मैं।
रि–द्धि प्रदायि गुणधीर, तुम्हें नमूं मैं।
कल–पान्त वान्त दुख भीरु, तुम्हें नमूं मैं।
प–रलोक सौख्य निरपेक्ष, तुम्हें नमूं मैं।
श्रु–त ज्ञान सागर गणेश, तुम्हें नमूं मैं।
त–त्त्व प्रकाशक विवेक, तुम्हें नमूं मैं।
मि–थ्यादि नीर वत् स्वच्छ, तुम्हें नमूं मैं।
धु–लना मनो मल अशेष, तुम्हें नमूं मैं।
तु–म से तुम्हीं गुण विशेष तुम्हें नमूं मैं।
मे–रे भवोदधि विनाश, तुम्हें नमूं मैं।
न–श्वर शरीर गत राग, तुम्हें नमूं मैं।
मू–र्च्छा विनाश गुरुवर्य, तुम्हें नमूं मैं।
मैं–हूँ अज्ञान भवतार, तुम्हें नमूं मैं।

ॐ ह्रीं आचार्यकल्प श्री श्रुतसागर मुनीन्द्राय स्तोत्रार्घ्यं० ॥

क्षमा खड्ग ले हाथ, क्रोध वली को वश किया।
ऐसे श्री गुरु राज, चरण कमल वन्दन करूं॥

दोहा

जो गुरुवर के चरण युग, श्रद्धा शीश नवाय ।
स्वर्गों में संशय नहीं, निश्चय शिव पद पाय ॥

॥ इत्याशीर्वाद ॥

अर्घ १०८ श्री अजितसागरजी

बाल ब्रह्मचारी गुणधारी, शिवसागर के शिष्य महान ।
वेष दिगम्बर धारी गुरुवर सरस्वती का है वरदान ॥
मन इन्द्रिय को जीत आपने, अजित नाम को सार्थ किया ।
चरणन अर्घ चढ़ा कर मैंने, मिथ्यातम को दूर किया ॥

ॐ ह्रीं श्री अजितसागरमुनीन्द्राय अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं नि० ॥

अर्घ १०८ श्री निर्मलसागरजी

निर्मलसागर निर्मल महा, निर्मल वेष दिगम्बर लहा ।
निर्मल अर्घ चढा थुति करूं, निर्मल हो शिवरमणी वरूं ॥

ॐ ह्रीं श्री निर्मलसागरमुनीन्द्राय अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं नि० ॥

अर्घ १०८ श्री सुबुद्धिसागरजी

षट्काय पाल सुगुप्तिधार सुबुद्धि सागर मुनिवरा ।
शिवसिन्धु के उपदेश से, छोड़ा परिग्रह गुणवरा ॥
यह यथाजात स्वरूप तुमरा, शिवरमा को भाइया ।
मन वचन काय विशुद्ध करके, अष्ट द्रव्य चढ़ाइया ॥

ॐ ह्रीं श्री सुबुद्धिसागरमुनीन्द्राय अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं नि० ।

आरती

ॐ जय श्रुतसागर महाराज, स्वामी जय श्रुतसागर महा०

आरति तुमरी उतारूं २ तारण तरण जहाज ॥ ॐ जय०

मोह मल्ली को जीता, भेष दिगम्बर धार,

स्वामी भेष दिगम्बर धार ।

मुनि कल्प गुण आगर २, भव्य उबारन हार ॥ ॐ ज

नर भव सफल बनाया, संयम कलशा धार ।

स्वामी संयम कलशा धार ।

समीचीन तप तपते २ आतम ज्योति निहार ॥ ॐ

ज्ञानामृत रस सागर, चारित निधि आधार ।

स्वामी चारित निधि आधार,

जगमग दीप जगाकर २ आरति करूं सुखकार । ॐ ०

स्वामी जय श्रुतसागर महाराज ।

आरति तुमरी उतारूं २ तारण तरण जहाज,

ॐ जय श्रुतसागर मुनिराज ।

आरती

ॐ जय श्रुतसागर महाराज, स्वामी जय श्रुतसागर महा०
आरति तुमरी उतारूं २ तारण तरण जहाज ॥ ॐ जय०
मोह बली को जीता, भेष दिगम्बर धार,
स्वामी भेष दिगम्बर धार।
सूरि कल्प गुण आगर २, भव्य उबारन हार ॥ ॐ जय०
नर भव सफल बनाया, संयम कलशा धार।
स्वामी संयम कलशा धार।
समीचीन तप तपते २ आतम ज्योति निहार ॥ ॐ जय०
ज्ञानामृत रस सागर, चारित निधि आधार।
स्वामी चारित निधि आधार,
जगमग दीप जगाकर २ आरति करूं सुखकार। ॐ जय०
स्वामी जय श्रुतसागर महाराज।
आरति तुमरी उतारूं २ तारण तरण जहाज,
ॐ जय श्रुतसागर मुनिराज।

समाधि दीपक